

कठोपनिषद्-प्राक्कथनम्

यह कठोपनिषद् यजुर्वेद की कठशाखान्तर्गत है । ‘कठ’ महर्षि का नाम है, उनसे प्रोक्त उपनिषद् भी ‘कठ’ नाम से ही प्रसिद्ध हो गई। कठ-शाखा का यह उपनिषद्-भागमात्र ही अधिक प्रचरित है ।

अध्यात्म-ज्ञान के स्रोत उपनिषदों का मुख्य प्रयोजन यही है कि ब्रह्म-स्वरूप का बोध कराना तथा मानव को सांसारिक-दुखों से मुक्त करके मोक्ष-प्राप्ति कराना । इस उपनिषद् में यमाचार्य-नचिकेता के गुरु-शिष्य संवाद रूप में ब्रह्मविद्या का उपदेश किया है । यह एक आलङ्कारिक वर्णन है । महर्षि-दयानन्द ने इस विषय में बहुत स्पष्ट लिखा है—

“नचिकेता और यम इन दोनों का यह परस्पर संवाद है कि हे नचिकेतः ? जो अवश्य प्राप्त करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिए संक्षेप से उपदेश करता हूँ । और यहां यह भी जानना उचित है कि अलङ्कार रूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिए ।” (ऋ० भू० वेदविषय०)

अतः नचिकेता और यम ये कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं । इस उपनिषद् की अन्तःसाक्षी से भी यही स्पष्ट होता है कि यह आलङ्कारिक संवाद है—

(१) नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ॥ कठो० ३।१६॥

अर्थात् यह सनातन नाचिकेत-उपाख्यान है । ‘उपाख्यान’ शब्द आख्यान का पर्यायवाची ही है ।

(२) इस उपनिषद् में यम को मृत्यु, वैवस्वत तथा अन्तर्कादि शब्दों से कहा गया है । जो किसी व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हो सकते । और इस की पुष्टि निम्न वाक्य से और अधिक हो रही है

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ (२।६)

अर्थात् जो ऐसा मानता है कि यह लोक ही है, परलोक नहीं है, वह बार-बार मेरे वश में आता है । इससे स्पष्ट है कि यम व्यक्ति नहीं है । यह परब्रह्म के लिए ही प्रयुक्त है, क्योंकि जीव उसकी कर्मफल भोगने की व्यवस्था के ही वशीभूत रहता है ।



इस रहस्य को वेद के मन्त्र में भी समझा जा सकता है—

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि ॥ (अथर्व० ६।१३३।३)

अर्थात्—ब्रह्मचारी=ब्रह्म को जानने का इच्छुक कहता है कि मैं मृत्यु=परमात्मा का ब्रह्मचारी हूँ। ब्रह्मचर्य का पालन तभी सम्भव है कि जब वह परब्रह्म को अपना आचार्य मानता हो, क्योंकि यह मृत्युरूप आचार्य उसकी प्रत्येक चेष्टा को देखता है, अतः दुष्कर्म से बचा जा सकता है।

‘मृत्यु’ शब्द से यहां जन्म-मरण रूप दुःख भी अर्थ ले सकते हैं। क्योंकि इस सांसारिक दुःख से सन्तप्त मानव ही दुःखमोचक परब्रह्म की शरण में जाने का प्रयत्न करता है। अतः मृत्यु ही मानो परब्रह्म का उपदेश दे रहा है। महात्मा बुद्ध और महर्षि दयानन्द के जीवन की घटनाएं इस विषय को और स्पष्ट कर देती हैं, जो मृत्यु को देखकर इतने सन्तप्त हुए कि पूर्ण विरक्त होकर तथा सांसारिक सुखों को त्यागकर परब्रह्म के ही ध्यान में लग गए। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी जैसा नास्तिक महर्षि दयानन्द के मृत्यु-दृश्य को देखकर ईश्वर-भक्त बन गया। इसी प्रकार अत्याचारी पापी जन भी बहुधा मृत्यु से भयभीत होकर धार्मिक व आस्तिक बनते देखे जाते हैं। यही जीवात्मा को मृत्यु की शिक्षा है।

‘नचिकेताः’ शब्द का अर्थ भी जीवात्मा के साथ सङ्गत होता है निघण्टु में ‘चिकेतति’ क्रिया गत्यर्थक धातुओं में पठित है, उससे औणादिक प्रत्यय करने पर ‘चिकेतस्’ पद बनता है। उससे नञ्समास करने पर छन्दोवत् मानकर ‘नञ्’ के ‘न’ का लोप ‘नक्षत्र’ ‘नकुल’ आदि शब्दों के समान नहीं हुआ। जिसका अर्थ हुआ—जो शरीर में अविचल=अपरिणामी रहता है, उस अमर जीवात्मा को ‘नचिकेताः’ कहते हैं। ‘यम’ शब्द परमात्मा का नाम है। जिसका अर्थ करते हुए महर्षि दयानन्द ने लिखा है—

(क) “(यमु उपरमे) इस धातु से ‘यम’ शब्द सिद्ध होता है। ‘यः सर्वान् प्राणिनो नियच्छति स यमः’ जो सब प्राणियों के कर्मफल देने की व्यवस्था करता है और सब अन्यायों से पृथक् रहता है, इसलिए परमात्मा का नाम ‘यम’ है।” (स० प्र० प्र० समु०)

(ख) यमस्य=सर्वनियन्तुः (ईश्वरस्य)।

(ऋ० १।८३।५ महर्षिभाष्यम्)

यमः=यन्ता (परमेश्वरः) । (यजु० ३५।१ महर्षिभाष्यम्)

इस प्रकार 'यम' शब्द वेदों में भी परमात्मा के लिए प्रयुक्त है । और उपनिषत् की अन्तःसाक्षी से भी यम का अर्थ परमात्मा सिद्ध होता है ।

“लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा ।” (कठो० १।२७) नचिकेता कहता है कि हे यम ! यदि आप को जान लेंगे तो धनादि तो स्वतः ही प्राप्त हो जायेंगे ।

यहां सर्वविध धनों का दाता तथा 'जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वम्' जीवन देने वाला होने से यम परमात्मा से भिन्न कोई नहीं हो सकता । अतः यम परमात्मा और नचिकेता जीवात्मा का यह आलङ्कारिक वर्णन है ।

तीनों वरदानों का आध्यात्मिक स्वरूप—

सभी उपनिषदों का चरम-उद्देश्य आत्मा तथा परमात्मा का ज्ञान कराना है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक दुःखों से छुड़ाकर मोक्ष-प्राप्ति कराना है । कठोपनिषद् में नचिकेता ने यमाचार्य से तीन वरदान मांगे हैं—(१) पिता की प्रसन्नता (२) स्वर्ग्य-अग्नि (यज्ञविद्या) का उपदेश (३) मरने के बाद आत्मा की सत्ता है या नहीं और परमात्मज्ञान । इन तीनों वरदानों को यथार्थ में समझने के लिए हमें मानवजीवन के लक्ष्य को जानना परमावश्यक है । न्यायदर्शन के ४।१।५९ सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि इस विषय में लिखते हैं—

“जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते । ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः ।”

अर्थात् जो गृहस्थ ब्राह्मण=ब्रह्म को जानना चाहता है, उसको तीन ऋणों से मुक्त होना परमावश्यक है । तीन ऋण ये हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण और पितृ-ऋण । इनकी निवृत्ति के ये उपाय हैं—ऋषि-ऋण की निवृत्ति ब्रह्मचर्य=वेद-पठन, ब्रह्म की उपासना तथा संयम से होती है। देव-ऋण की निवृत्ति यज्ञ के द्वारा होती है और पितृ-ऋण की निवृत्ति उत्तम सन्तान से होती है । नचिकेता ने भी प्रथम वरदान में पितृ-ऋण से निवृत्त होने के लिए, द्वितीय वरदान में यज्ञविद्या से देव-ऋण से मुक्त होने के लिए तथा तृतीय वरदान में ऋषि-ऋण से मुक्त होने के लिए ब्रह्म=परमात्मा के ज्ञान की प्रार्थना की है ।

इस उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि दुःखों से निवृत्ति चाहने वाले

मनुष्य को क्रमशः तीनों ऋणों से मुक्त होने का यत्न करना चाहिए । अतः तीनों वरदान आध्यात्मिक-ज्ञान के लिए क्रमशः सोपान (सीढ़ी) की भांति हैं ।

(प्रश्न) क्या संन्यासी के लिए भी इन तीन ऋणों से मुक्त होना आवश्यक है ?

(उत्तर) जो मनुष्य गृहस्थ में प्रवेश करता है, उसको तीनों ऋणों से मुक्त होना परमावश्यक है, किन्तु जिसने ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले लिया है, उसके लिए इन ऋणों का बन्धन नहीं है । न्यायदर्शन के भाष्यकार महर्षि वात्स्यायन ने 'जायमानो ह वै०' इस प्रमाण की व्याख्या करते हुए लिखा है—'गृहस्थः सम्पद्यमानो जायमानः ।' जब मनुष्य गृहस्थ में प्रवेश करता है, तब वह इन ऋणों से बंधता है । कठोपनिषद् में जो आध्यात्मिक वरदानों का वर्णन है, वे भी मध्यम मार्ग के पथिकों के लिए एक सामान्य-पद्धति का ही निर्देश दे रहे हैं । 'ऋण' शब्द यहां प्रधानार्थ को न कहकर 'ऋणैरिव ऋणैः' लाक्षणिक 'ऋण के समान' अर्थ में प्रयुक्त है । जो गृहस्थी इन ऋणों को नहीं चुकाता वह ऋणी व्यक्ति की तरह निन्दनीय होता है और ऋण-मुक्त प्रशंसनीय होता है ।

आचार्य-शङ्कर ने प्रथम दो वरदानों के विषय में लिखा है—

“वरद्वयसूचितं वस्तु नात्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम् ।”

(कठो० १।१९)

अर्थात् प्रथम दो वरदान आत्म-तत्त्व का विज्ञान नहीं कराते । यह उनका कथन उपनिषद् के आशय से विरुद्ध होने से अप्रामाणिक है । जिस उपनिषद् का प्रयोजन बताते हुए स्वयं श्री शङ्कराचार्य ने लिखा है—

“प्रयोजनं चास्य उपनिषद आत्यन्तिकी संसार-निवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्ति-लक्षणा ।” (कठो० के भाष्यारम्भ में) अर्थात् इस उपनिषद् का प्रयोजन है संसार से अत्यन्त निवृत्ति होने से ब्रह्मप्राप्ति कराना । यदि ये दोनों वरदान आत्मतत्त्वबोध कराने में कथञ्चिदपि सहायक नहीं तो इस उपनिषद् में उनका कथन निरर्थक ही हो जायेगा ।

यथार्थ में श्री शङ्कराचार्य कोई एक निश्चित धारणा न करके ही उपनिषदों का भाष्य कर गए हैं । वे अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कर्मों को भी त्याज्य समझते हुए लिखते हैं—**“नहि कर्मिणो ब्रह्मनिष्ठता सम्भवति कर्मात्मज्ञानयोर्विरोधात् ।”** (मुण्डक १।२।१२) अर्थात् अग्निहोत्रादि

कर्मों के करने से ब्रह्मनिष्ठ नहीं हो सकता, क्योंकि कर्म और आत्मज्ञान में परस्पर विरोध है। दूसरे स्थान पर लिखते हैं—“वैराजं पदं ज्ञानकर्म-समुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः।” (कठो० १।१७) अर्थात् वैराजपद=ब्रह्म का ज्ञान तथा कर्मों के अनुष्ठान से प्राप्त होता है। क्या इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध नहीं है ?

उपनिषत्कार का आशय तो बहुत ही स्पष्ट है कि तीनों वरदानों से आत्मज्ञान होता है। जब तक मानव अपने मानवीय कर्तव्यों का पालन नहीं करता, और अग्निहोत्रादि श्रेष्ठ कार्यों के करने से बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि नहीं कर पाता, तब तक वह आत्मज्ञान की प्राप्ति का अधिकारी नहीं बन सकता और नहीं सुख-शान्ति प्राप्त कर सकता है। जिन्हें उपनिषत्कार ने “मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य” (कठो० १।१८) कहकर मृत्यु के जाल माने हैं। जिनका अर्थ स्वयम् आचार्य शङ्कर ने ‘अधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्’ किया है, उनसे निवृत्त होने के लिए ही प्रथम दोनों वरदान परमोपयोगी हैं। आचार्य शङ्कर ने उपनिषद्-भाष्य में अनेक स्थानों में ज्ञान और कर्म में विरोध मानकर लिखा है, किन्तु उपनिषद् की अन्तःसाक्षी से उनका कथन परस्पर विरुद्ध है और मिथ्या ही है। प्रमाणस्वरूप कुछ अन्य उद्धरण—

(क) ‘परमात्मविद्यायाः कर्मणश्च विरोधात्समुच्चयानुपपत्तिः ॥

(ईशावा० १८ । शा०)

(ख) ‘अविद्यां=विद्याया अन्या अविद्या तां कर्मेत्यर्थः कर्मणो विद्या-विरोधित्वात् । तामविद्यामग्निहोत्रादिलक्षणामेवोपासते ।’

(ईशावा० ९ । शा०)

(ग) ‘पूर्वेण मन्त्रेण संन्यासिनो ज्ञाननिष्ठोक्ता, द्वितीयेन तदशक्तस्य कर्मनिष्ठेति, उच्यते ज्ञानकर्मणोर्विरोधं पर्वतवदकम्प्यम् ।’

(ईशावा० २। शा०)

अर्थ—

- (क) परमात्मविद्या और कर्म का विरोध होने से समुच्चय नहीं हो सकता।
- (ख) विद्या से भिन्न को अविद्या कहते हैं और वह कर्म ही अविद्या है। कर्म विद्या का विरोधी है।
- (ग) प्रथम (ईशावा०) मन्त्र में संन्यासी के लिए ज्ञाननिष्ठा कही गई और दूसरे (कुर्वन्नेवेह०) मन्त्र में ज्ञान में असमर्थ के लिए कर्म-निष्ठा कही गई है। ज्ञान और कर्म का पर्वत के तुल्य अविचलित विरोध है।

इस प्रकार आचार्य-शङ्कर की मान्यता स्पष्ट है कि ज्ञान और कर्म में परस्पर विरोध है । किन्तु उनकी यह मान्यता उनके अपने भाष्य से तथा उपनिषत्कार की अन्तःसाक्षी के विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती । देखिए कतिपय उनके उद्धरण—

१—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः॥ (ईशा० २ मन्त्र)

इसकी व्याख्या में स्वयं श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—“कुर्वन्नेव निर्वर्तयन्नेवेह कर्माण्यग्निहोत्रादीनि जिजीविषेत्=जीवितुमिच्छेच्छतं शत-संख्याकाः समाः संवत्सरान् ।” अर्थात् मनुष्य १०० वर्ष तक अग्निहोत्रादि कर्मों को करता हुआ ही जीने की इच्छा करे । जब श्री शङ्कराचार्य जी मनुष्य की पूर्णायु—‘तावद्धि पुरुषस्य परमायुर्निरूपितम्’ सौ^१ वर्ष ही मानते हैं, तब इन शुभकर्मों का त्याग कैसे सम्भव है ।

२—त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् जन्म-मृत्यू ॥

(कठो० १।१७)

इसकी व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—“त्रिकर्मकृत्=इज्याध्ययनदानानां कर्त्ता तरति=अतिक्रामति जन्म-मृत्यू ।” अर्थात् यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन कर्मों को करने वाला जन्म व मृत्यु का उल्लङ्घन कर जाता है । अर्थात् आवागमन के चक्र से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । जब यज्ञादि कर्मों से भी मोक्ष-प्राप्ति होती है तो ये कर्म परमात्म-ज्ञान में बाधक कैसे हो सकते हैं ?

३—त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य०

(कठो० १।१८)

अर्थात् जिसने इस अग्नि का तीन प्रकार अर्थात् आहवनीयादि रूप में चयन किया है, वह मृत्यु के बन्धनों से छूटकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है । यहां परमात्म-ज्ञान का तथा अग्निहोत्रादि पुण्यकर्मों का उद्देश्य एक ही माना है फिर इनमें विरोध कैसे सम्भव है ?

४—ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥

(कठो० २।१०)

नाचिकेता से यमाचार्य कहते हैं कि—मैं यज्ञादि से प्राप्त होने

१. यद्यपि यह उनकी मान्यता सत्य नहीं है । वेद में स्पष्ट कहा है कि—“भूयश्च शरदः शतात्” (यजु०) अर्थात् सौ वर्षों से अधिक भी जीवें। और प्रत्यक्ष भी मनुष्यों की १०० वर्षों से अधिक आयु देखी जाती है ।

वाले सुखों को अनित्य मानता हूं किन्तु मैंने फिर भी यज्ञादि के लिए अग्नि का चयन किया है, क्योंकि इन अनित्य साधनों से नित्य परमात्मा की प्राप्ति होती है। यहां यमाचार्य ने अपनी साक्षात् अनुभूति का ही वर्णन किया है। अतः परमात्मज्ञान में यज्ञादि कर्म कदापि बाधक नहीं हो सकते।

५-प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्॥

(कठो० १।१४)

यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! मैं तेरे लिए उस अग्नि का उपदेश कर रहा हूं, जो स्वर्ग्य=स्वर्ग का साधन है। और यह अग्नि 'अनन्तलोकाप्तिम्' अविच्छिन्न सुखों को देने वाली है।

इत्यादि उपनिषद् के प्रमाणों से स्पष्ट है कि अग्निहोत्रादि कर्मों तथा परमात्म-ज्ञान में विरोध कदापि नहीं है, प्रत्युत साधन-साध्य भाव है। दूसरे मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में भी यज्ञादि कर्मों को नित्य-कर्म मानकर इनमें किसी के लिए भी छूट नहीं दी है। जो नवीन वेदान्ती अथवा दूसरे पौराणिक बन्धु यज्ञादि श्रेष्ठकर्मों को संन्यासी के लिए विहित नहीं मानते हैं, वे भ्रान्त ही हैं। क्योंकि ज्ञानयोग और कर्मयोग एक दूसरे के सहायक हैं, विरोधी नहीं। विना ज्ञान के कर्म करने वाला अन्धे के समान है, जिसे सन्मार्ग का ज्ञान ही नहीं हो सकता और विना कर्म के ज्ञान पङ्गुवत् (लंगड़े की भांति) है। जिसे सन्मार्ग का तो ज्ञान है, किन्तु उसके अनुसार न चलने से ज्ञान के फल से वञ्चित ही रहता है। इसीलिए गीता में यज्ञादि को अपरिहार्य बताते हुए लिखा है—

यज्ञदानतपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।

यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥ (गीता० १८।५)

अर्थात् यज्ञ, दान तथा तप ये तीन कर्म कभी भी त्याज्य नहीं हैं। क्योंकि इनसे मनीषियों की भी शुद्धि होती है। इस प्रकार कठोपनिषद् के तीनों वरदान परमात्म-ज्ञान में उपयोगी हैं। इनसे परस्पर किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है।

कठोपनिषद् में जीव-ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन—

जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों ही अनादि, सत् तथा चित्=चेतन हैं। यह दोनों का साधर्म्य है, किन्तु परमात्मा आनन्दस्वरूप, सर्वत्र व्यापक,

निराकार, सर्वज्ञ, सृष्टिकर्ता जीवों के कर्मों का साक्षी तथा कर्मफल-दाता, वेद-ज्ञान का उपदेष्टा, न्यायकारी, परम-पवित्र, सर्वशक्तिमान् आदि गुणयुक्त है और जीवात्मा परिच्छिन्न, कर्म करने में स्वतन्त्र किन्तु कर्म-फल भोगने में परतन्त्र, अल्पज्ञ तथा इच्छा, द्वेष, सुख-दुःखादि गुणों वाला है और यह प्रति शरीर में भिन्न-भिन्न है। महर्षि दयानन्द ने दोनों के साधर्म्य तथा वैधर्म्य बताते हुए लिखा है—

- (क) “दोनों चेतनस्वरूप हैं। स्वभाव दोनों का पवित्र, अविनाशी और धार्मिकता आदि है। परन्तु परमेश्वर के सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, सब को नियम में रखना, जीवों को पाप-पुण्यों के फल देना आदि धर्मयुक्त कर्म हैं। और जीव के सन्तानोत्पत्ति, उनका पालन, शिल्पविद्या आदि अच्छे-बुरे कर्म हैं। ईश्वर के नित्य-ज्ञान, आनन्द, अनन्त बल आदि गुण हैं। और जीव के (इच्छा, द्वेषादि) ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं।”
- (ख) “इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ, और सर्वव्यापक स्वरूप है। इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है।”
- (ग) “वैसे जीव परमेश्वर से स्थूल और परमेश्वर जीव से सूक्ष्म होने से परमेश्वर व्यापक और जीव व्याप्य है। जैसे यह व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध जीव-ईश्वर का है, वैसे ही सेव्य-सेवक, आधाराधेय, स्वामि-भृत्य, राजा-प्रजा और पिता-पुत्र आदि भी सम्बन्ध हैं।”
- (घ) “(प्रश्न) ब्रह्म और जीव की सदा एकता अनेकता रहती है वा कभी दोनों मिलके एक भी होते हैं वा नहीं ?

(उत्तर) अभी इसके पूर्व कुछ उत्तर दे दिया है, परन्तु साधर्म्य अन्वयभाव से एकता होती है। जैसे आकाश से मूर्तद्रव्य जडत्व होने से और कभी पृथक् न रहने से एकता और आकाश के विभू, सूक्ष्म अरूप, अनन्तादि गुण और मूर्त के परिच्छिन्न दृश्यत्व आदि वैधर्म्य से भेद होता है। अर्थात् जैसे पृथिव्यादि द्रव्य आकाश से भिन्न कभी नहीं रहते, क्योंकि अन्वय अर्थात् अवकाश के विना मूर्तद्रव्य कभी नहीं रह सकता और व्यतिरेक अर्थात् स्वरूप से भिन्न होने से पृथक्ता है। वैसे ब्रह्म के व्यापक होने से जीव और पृथिवी आदि द्रव्य उस

से अलग नहीं रहते और स्वरूप से एक भी नहीं होते ।

जैसे घर के बनाने के पूर्व भिन्न-भिन्न देश में मट्टी, लकड़ी और लोहादि पदार्थ आकाश ही में रहते हैं । जब घर बन गया तब भी आकाश में है और जब वह नष्ट हो गया अर्थात् उस घर के सब अवयव भिन्न-भिन्न देश में प्राप्त हो गए, तब भी आकाश में हैं । अर्थात् तीन काल में आकाश से भिन्न नहीं हो सकते और स्वरूप से भिन्न होने से न कभी एक थे, हैं और न होंगे । इसी प्रकार जीव तथा सब संसार के पदार्थ परमेश्वर में व्याप्य होने से परमात्मा से तीनों कालों में भिन्न और स्वरूप भिन्न होने से एक कभी नहीं होते ।” (क से घ तक, सत्यार्थ० सप्तम समु०)

उपर्युक्त महर्षि दयानन्द के द्वारा जीव-ब्रह्म की भिन्नता का साधर्म्य वैधर्म्य के दृष्टान्तों से स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है । परन्तु नवीन वेदान्ती इससे विपरीत जीव की परब्रह्म से भिन्न कोई सत्ता नहीं मानते, यह उनकी भ्रान्ति ही है । उपनिषदों की अन्तःसाक्षी से भी जीव-ब्रह्म की भिन्नता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है—

१-ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ॥

(कठो० ३।१)

यहां स्पष्ट-रूप से द्विवचनान्तों का प्रयोग जीव-ब्रह्म की भिन्नता को बता रहा है । दोनों ही हृदय रूप गुफा में प्रविष्ट हैं अर्थात् ब्रह्म सूक्ष्मतम होने से जीवात्मा में भी व्यापक है । दोनों ही ऋत=सत्य विज्ञान का सेवन करते हैं । ऐसा ही “गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ।” (ब्रह्मसूत्र १।२।११ में भी आत्मानौ कहकर दोनों को भिन्न-भिन्न माना है । इसके भाष्य में श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—“एकस्तत्र कर्मफलं भुङ्क्ते नेतरः” अर्थात् एक जीवात्मा कर्मों का फल भोगता है, दूसरा परमात्मा नहीं । और यहीं दोनों में भेद मानते हुए लिखते हैं—“एवं च प्राप्तृ-प्राप्य गन्तृ-गन्तव्याविवेकार्थरथरूपकद्वारा द्वावात्मानावुपन्यस्येते ।” अर्थात् प्राप्य-प्रापक, गन्ता-गन्तव्य के भेद से रथ रूपक द्वारा यहां दो आत्माओं का वर्णन है ।

(२) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः॥

(कठो० ६।१७)

अर्थात् इस शरीर में अङ्गुष्ठमात्र हृदय-स्थान में जीवात्मा का

निवास है और अन्तरात्मा परब्रह्म उसमें भी व्यापक है ।

(३) यं ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥

(कठो० ६।८)

अर्थात् जीव उस परमात्मा को जानकर मोक्ष को प्राप्त करता है। यहां ज्ञाता तथा ज्ञेय के भेद से दोनों को भिन्न-भिन्न माना है ।

(४) आत्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ॥ (कठो० २।२०)

अर्थात् वह परमात्मा इस जीवात्मा के हृदय-स्थान में विराजमान है। अर्थात् परमात्मा की उपासना का स्थान हृदय-स्थान ही है । क्योंकि यहां उपासक जीवात्मा और उपास्य परमात्मा दोनों ही विद्यमान हैं ।

(५) यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ॥ (कठो० २।२३)

अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति केवल उपदेशादि से नहीं होती किन्तु वह परमात्मा जिस जीवात्मा को पवित्रादि गुणयुक्त समझता है और उस पर अनुकम्पा करता है वह जीवात्मा ही उसे प्राप्त कर सकता है । यहां अनुकम्पा करने वाला और अनुकम्पित भेद से जीव-ब्रह्म को भिन्न-भिन्न माना है ।

(६) एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा.....तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति ॥

(कठो० ५।१२)

अर्थात् वह परब्रह्म सब प्राणियों का अन्तरात्मा है । और योगीपुरुष उसका अपनी आत्मा में ही साक्षात्कार करते हैं । यहां द्रष्टा-दृश्य भेद से जीव-ब्रह्म की भिन्नता का प्रतिपादन किया है ।

(७) नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् ॥ (कठो० ५।१३)

यहां परब्रह्म को नित्यों से भिन्न नित्य तथा चेतन तत्त्वों से भिन्न चेतन माना है । जो कि अद्वैतवाद में कभी सङ्गत नहीं हो सकते । अतः चेतन ब्रह्म से भिन्न जीवात्मा ही चेतन तत्त्व है और प्रकृति तथा जीवात्मा दोनों नित्य हैं ।

इत्यादि इस उपनिषद् के बहुत प्रमाणों से जीव-ब्रह्म की भिन्नता सिद्ध होती है । जिन उपनिषदों को अद्वैतवादी अपना सर्वाधिक आधार बताते हैं, उन से भी उन की मान्यता का स्पष्ट खण्डन हो रहा है । स्वाध्यायशील पाठक रहस्यात्मक उपनिषद्-विद्या को समझने के लिए समस्त पूर्वापर की सङ्गति लगाने का यत्न करें और मिथ्या भ्रान्तियों का निराकरण कर सत्यज्ञान के प्रसार में सहायक बनें । —राजवीर शास्त्री
(सं० दयानन्दसन्देश)

अथ कठोपनिषद्-भाष्ये प्रथमा वल्ली

तच्च भाष्यम्

(महर्षि दयानन्द-स्वामिशङ्कराचार्ययोः तुलनात्मकसमीक्षया संवलितम्)

उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।

तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥१।१॥

पदार्थ—(ह वै) ये दोनों निपात यम-नचिकेता के प्रसिद्ध आख्यान को स्मरण कराने के लिए हैं । अर्थात् ब्रह्मज्ञानियों को इस इतिहास का स्मरण करना चाहिए कि (उशन्) संसार की सब एषणाओं का परित्याग तथा दुःखों से छूटने की इच्छा करते हुए (वाजश्रवसः) वाजश्रवा अन्नादि पदार्थों के स्वामी तथा विद्वान् व्यक्ति ने (सर्ववेदसम्) अपने सब अन्न धनादि पदार्थों को (ददौ) दे दिया अर्थात् विश्वजित्=सर्वमेध यज्ञ किया और उसमें सर्वस्व त्याग कर संन्यास ग्रहण किया । (तस्य) उसका (ह) निश्चय से (नचिकेताः, नाम) नचिकेता नाम का (पुत्रः) पुत्र (आस) था ।

भावार्थ—यहां 'ह वै' पद प्रसिद्ध आख्यान को बताने के लिए प्रयुक्त हैं । 'नचिकेताः' तथा 'वाजश्रवसः' शब्द भी ऐतिहासिक व्यक्ति-विशेष के वाचक नहीं हैं, प्रत्युत इनके शाब्दिक अर्थ के अनुसार ही अर्थ लेना चाहिए । 'नचिकेताः' का अर्थ अपरिणामी अमर जीवात्मा है । 'चिकेताः' पद गत्यर्थक निघण्टु पठित 'चिकेतति' क्रिया से 'असुन्' प्रत्ययान्त है । और नञ्समास करने पर 'नचिकेताः' शब्द बनता है । जिसका अर्थ है—शरीर में अविचल=अपरिणामी जीवात्मा और 'वाजश्रवसः' का अर्थ है—“वाजोऽन्नं श्रवः=धनं यस्य” अर्थात् जिसके अन्नादि पदार्थ ही धन हैं अर्थात् ऐश्वर्य-सम्पन्न व्यक्ति । अथवा—“वाजोऽन्नं विज्ञानं वा श्रवः=श्रवणं विद्या च यस्य सः” जिसके पास भौतिक अन्नादि ऐश्वर्य या विज्ञान तथा विद्या दोनों हैं, ऐसे ऐश्वर्यवान् तथा विज्ञानयुक्त विद्वान् व्यक्ति को 'वाजश्रवाः' कहते हैं ।

विश्वजित्=सर्वमेधयज्ञ प्राजापत्येष्टि ही है, जिसमें मोक्षार्थी को

सर्वस्व त्याग करना पड़ता है । जिसके विषय में मनुस्मृति के प्रमाण देकर महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

“अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।

इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे नियोजयेत् ॥१॥

प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।

आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥२॥” (मनु०)

अर्थ—विधिपूर्वक ब्रह्मचर्याश्रम से सब वेदों को पढ़ गृहाश्रमी होकर धर्म से पुत्रोत्पत्ति कर, वानप्रस्थ में सामर्थ्य के अनुसार यज्ञ करके मोक्ष में अर्थात् संन्यासाश्रम में मन लगावे ॥१॥

प्राजापति परमात्मा की प्राप्ति के निमित्त प्राजापत्येष्टि कि जिसमें यज्ञोपवीत और शिखा का त्याग किया जाता है, आहवनीय, गार्हपत्य, और दाक्षिणात्य संज्ञक अग्नियों को आत्मा में समारोपित करके ब्राह्मण विद्वान् गृहाश्रम से ही संन्यास लेवे ॥२॥ (संस्कार० संन्यासप्रकरण से)

और मनुस्मृति तथा उपनिषद् दोनों में ‘सर्ववेदसम्’ पद पठित है । मनु ने यहां स्पष्ट लिखा है कि अपने सब पदार्थों को ‘प्राजापत्येष्टि’ में दाक्षिणा में देना चाहिए । यही भाव उपनिषद् के आख्यान से भी स्पष्ट हो रहा है ।

न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि इस विषय में लिखते हैं—“प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत् ।” इति श्रूयते, तेन विजानीमः—प्रजावित्त-लोकैषणाभ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयत इति ॥”

(न्याय० ४।१।६१ वात्स्या०)

अर्थात् ब्राह्मण=ब्रह्मनिष्ठ मोक्ष की इच्छा वाला प्राजापत्येष्टि करके उसमें अपने सब भौतिक पदार्थों को दाक्षिणा में ऋत्विजों को देकर आत्मा में अग्नि=ब्रह्माग्नि का समारोपण करके संन्यासी हो जाए ।

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य मुनि ने भी सर्वस्व त्यागकर संन्यास की दीक्षा ली थी । इस विषय में ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमाण देते हुए वात्स्यायनमुनि लिखते हैं—“एवं च ब्राह्मणानि—सोऽन्यद् व्रतमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीमिति होवाच—प्रव्रजिष्यन् वा अरे अहमस्मात् स्थानादस्मि” इति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज ।”

(न्याय ४।१।६१ वात्स्या०)

सर्वमेध=प्राजापत्येष्टि में दी जाने वाली दाक्षिणा में त्रुटि देखकर

नचिकेता के हृदय में क्या भाव उत्पन्न होते हैं, उनका कथन करते हैं—

तं ह कुमारः ह सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु ।

श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥१॥२॥

पदार्थ—(ह) यह प्रसिद्ध है कि (तम्) उस (कुमारम्) अज्ञानी नचिकेता को (दक्षिणासु) दान किए हुए गायान्दि पदार्थों के (नीयमानासु) विद्वान् वेदपाठी ऋत्विजों को यथायोग्य देते समय (श्रद्धा) सत्य भावना अथवा आस्तिकता रूप बुद्धि (आविवेश) उत्पन्न हुई (सः) और वह नचिकेता (अमन्यत) विचार करने लगा ।

भावार्थ—नचिकेता को यहां 'कुमार' शब्द से अज्ञानी होने के कारण कहा गया है । ऐसा ही मनु जी मानते हैं 'अज्ञो भवति वै बालः।' जब उसने देखा कि मेरे पिता ऋत्विजों को ऐसी दक्षिणा दे रहे हैं, जिसका फल तो क्या मिलेगा, प्रत्युत पाप का भागी बनना पड़ेगा । ऐसी दक्षिणा देने से क्या लाभ ? इस प्रकार नचिकेता विचार करने लगा ।

नचिकेता अपने पिता द्वारा दी जाने वाली दक्षिणा के दोष के विषय में विचार करता है—

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।

अनन्दा नाम ते लोकास्तान् ह गच्छति ता ददत् ॥१॥३॥

पदार्थ—जो गौएँ (पीतोदकाः) पहले पानी पी चुकी हैं, जो (जग्धतृणाः) तृण (चारा) खा चुकी हैं (दुग्धदोहाः) जिनका दूध दुहा जा चुका है और (निरिन्द्रियाः) दुर्बलेन्द्रिय होने से प्रजननादि में भी असमर्थ हैं । (ताः) उन वृद्ध गायों को जो (ददत्) दक्षिणा में देता है (सः) वह (अनन्दाः) आनन्द-रहित दुःखमय (ते) वे (नाम) प्रसिद्ध (लोकाः) स्थान-विशेष अथवा जन्म हैं, (तान्) उन लोकों को (गच्छति) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—नचिकेता ने अपने पिता को दक्षिणा में ऐसी वृद्ध गौओं को देते हुए जब देखा जो वृद्धावस्था के कारण खाने-पीने तथा सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ हैं, तब वह सोचने लगा कि ऐसी दक्षिणा देकर पिता जी दक्षिणा के फल से तो वञ्चित ही रहेंगे और उनको दुःखमय जन्मों में जाना होगा । उन्हें कदापि स्वर्गसुख प्राप्त न हो सकेगा। ऐसा सोचकर वह अपने पिता के पास जाकर अपनी भावना प्रकट

करता है और पिता जी को भावी दुःख से बचाने की बात सोचता है ।

तत्पश्चात् दक्षिणा में त्रुटि समझकर नचिकेता पिता के पास जाकर कहता है—

स होवाच पितरं तात कस्मै मां दास्यसीति ।

द्वितीयं तृतीयं होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥१४॥

पदार्थ—(ह) यह प्रसिद्ध है कि (सः) वह नचिकेता (पितरम्) अपने पिता वाजश्रवस ऋषि से (उवाच) कहने लगा कि (तात) हे तात—पिता जी ! (माम्) मुझे (कस्मै) किसके लिए (दास्यसि) दोगे अर्थात् आपने अपना सब कुछ (गाय आदि) दक्षिणा में दे दिया, केवल मैं एक शेष रहा हूँ (इति) इस प्रकार अर्थात् पिता ने अबोध पुत्र की बात पर कुछ ध्यान नहीं दिया और कोई उत्तर नहीं दिया । तब नचिकेता ने वही बात (द्वितीयम्) दूसरी बार (तृतीयम्) तथा तीसरी बार (ह) निश्चय से वही बात (उवाच) कही अर्थात् मुझे किस को दोगे ? तब पिता ने क्रुद्ध होकर कहा कि (मृत्यवे) मृत्यु के लिए (त्वा) तुझे (ददामि, इति) दूंगा, इस प्रकार ।

भावार्थ—सर्ववेदस याग में दक्षिणा में बूढ़ी गायों को दान करते हुए अपने पिता को देखकर नचिकेता से नहीं रहा गया और वह पिता से अपनी बात को प्रकारान्तर से कहने के लिए बार-बार आग्रह करता है कि मैं भी आपका ही धन हूँ । मुझे आप किसको दोगे ? अबोध बालक के बार-बार आग्रह करने पर पिता ने क्रुद्ध होकर यह कहा कि मैं तुझे मृत्यु को देता हूँ । पिता ने यह बात केवल धमकाने के लिए कही थी । अन्यथा कौन ऐसा निर्दयी पिता है, जो अपने पुत्र को मृत्यु को देना चाहता हो ?

अपने पिता के क्रोधावेश में कहे वचन सुनकर नचिकेता मन में विचार करने लगा कि—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः ।

किं स्विद् यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति ॥१५॥

पदार्थ—मैं (बहूनाम्) बहुत बालकों में (प्रथमः) प्रथम=उत्तम भाव को (एमि) प्राप्त हूँ (बहूनाम्) बहुत बालकों में मध्यमभाव को (एमि) प्राप्त हूँ अर्थात् मैं किन्हीं की अपेक्षा निकृष्ट नहीं हूँ, पुनरपि

पिता ने ऐसा क्यों कहा कि तुझे मृत्यु को दूंगा ? इस प्रकार एकान्त में बैठा नचिकेता विचार करने लगा कि (यमस्य) मृत्यु का (किंस्वित्) क्या (कर्त्तव्यम्) करने योग्य कार्य शेष है (यत्) जिसे पिता (अद्य) इस समय (मया) मेरे से (करिष्यति) करायेंगे ।

भावार्थ—नचिकेता ने पिता के वचनों पर विचार करना शुरू किया कि मैं ऐसा अयोग्य नहीं हूँ कि पिता ने मुझ से दुःखी होकर मृत्यु को देने के लिए कह दिया हो अथवा यम का क्या कार्य शेष है, जिसे पिता मेरे से कराना चाहते हैं ? भाव यह है कि यम परमात्मा का नाम है, उसके द्वारा उपदिष्ट जो वेद-ज्ञान है, उसमें निर्दिष्ट कर्त्तव्यों में कौन सा शेष रह गया है कि जो मेरे पिता मेरे से कराना चाहते हैं ।

अथवा नचिकेता के पिता ने अपने पुत्र को ब्रह्मविद्या दिलाने के लिए ही 'मृत्यु' को देने को कहा है । मृत्यु के बाद आत्मा की सत्ता है, या नहीं ? आत्मा किसकी व्यवस्था से जन्म-जन्मान्तरों को प्राप्त होता है ? इस प्रकार की शिक्षा को उपचार से 'मृत्यु' शब्द कहा गया है । 'मृत्यु' अथवा 'यम' कोई स्थानविशेष में रहने वाला देवता नहीं है।

नचिकेता प्राचीन-परम्पराओं का स्मरण कराते हुए पिता जी को प्रतिज्ञा-पालन के लिए आग्रह करता है—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे ।

सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः ॥१६॥

पदार्थ—आप सदृश धर्मात्मा पुरुषों को शोक कभी नहीं करना चाहिए (यथा) जिस प्रकार (पूर्वे) हमारे पितामहादि पूर्वज वृद्ध लोग सत्-आचरण करते रहे हैं (तथा) उसी प्रकार आप भी (अनुपश्य) अनुसरण कीजिए अर्थात् शोकरहित होकर अपने वचनों का पालन कीजिए और (परे) दूसरे धर्मात्मा सत्पुरुष जैसे अपनी प्रतिज्ञा का पालन करते हैं, वैसे ही (प्रतिपश्य) आप भी प्रतिज्ञा का पालन करें । प्रतिज्ञा का पालन इस विनश्वर शरीर के मोहजाल में पड़कर नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि (मर्त्यः) मनुष्य (सस्यम्, इव) खेत में उत्पन्न हुए जौ आदि के समान (पच्यते) जीर्ण अर्थात् वृद्धावस्था को प्राप्त करता है और (पुनः) फिर मरने के बाद (सस्यम्, इव) खेती के समान (आजायते) उत्पन्न होता है ।

नचिकेता के समझाने पर पिता ने नचिकेता को मृत्यु को दे दिया। मृत्यु=ब्रह्मज्ञानी आचार्य के घर पर नचिकेता गया किन्तु वे घर पर नहीं थे। तीन दिन के बाद जब मृत्यु घर पर आए तो उनको बताया गया। कि—

तस्यैताथं शान्तिं कुर्वन्ति, हर वैवस्वतोदकम् ॥१७॥

भावार्थ—यहां विद्वान् अतिथि को वैश्वानर=अग्नि के समान ज्ञानादि गुणों का प्रकाशक तथा दुर्गुणों और अज्ञान को जलाने वाला कहा है । जो ऐसे अतिथि की योग्य सेवा से सत्कार नहीं करते, वे अग्नि से दग्ध होने के समान उत्तम गुणों के प्राप्त न होने से सदा दुःखी रहते हैं। यहां यम को वैवस्वत=विवस्वान्=सूर्य का पुत्र कहा है । उसका आशय यह है कि सूर्य काल का निर्माण करता है और ‘कालः पचति भूतानि’ काल सब प्राणियों को पकाता अर्थात् नष्ट कर देता है, ऐसा ईश्वरीय-नियम सर्वत्र सृष्टि में दिखाई देता है । अतः अवश्यम्भावी विनश्वरभाव को

याद दिला कर कर्तव्यपालन से विमुख न होने की शिक्षा दी गई है ।

प्रसङ्ग-वश अतिथि-सत्कार न करने से क्या-क्या दोष होते हैं, उनका कथन करते हैं—

आशाप्रतीक्षे सङ्गतः सूनृताञ्चेष्टापूर्त्ते पुत्रपशून्श्च सर्वान् । एतद् वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन् वसति ब्राह्मणो गृहे ॥१८॥

पदार्थ—(यस्य) जिस (पुरुषस्य) पुरुष के (गृहे) घर पर (ब्राह्मणः) विद्वान् अतिथि (अनश्नन्) भोजनादि सत्कार न प्राप्त करता हुआ (वसति) वास करता है । उस (अल्पमेधसः) मन्दबुद्धि पुरुष के (आशा-प्रतीक्षे) आशा=परोक्ष अभीष्ट-विषय की प्रार्थनापूर्वक प्राप्ति की उत्कण्ठा तथा प्रतीक्षा=प्रत्यक्ष इन्द्रियगोचर अथवा प्राप्त करने योग्य वस्तु की प्राप्ति की इच्छा (सङ्गतम्) सत्सङ्गति से होने वाला फल (सूनृताम्) सत्य तथा मधुरवाणी का फल (इष्टापूर्त्ते) यज्ञादि वैदिक कर्मों का फल तथा सामाजिक भलाई के लिए किए गए वापी (बावड़ी), कूप, तडाग (तालाब) बाग-बगीचा, अनाथालय, प्याऊ, धर्मशालादि पुण्यकर्मों के फल को (च) और (सर्वान्) सब (पुत्र-पशून्) पुत्र तथा पशुओं को (एतत्) यह असत्कृत अतिथि (वृङ्क्ते) रहित अर्थात् नष्ट कर देता है।

भावार्थ—यहां विद्वान् अतिथि का सत्कार न करने से क्या-क्या हानियां होती हैं, उन्हें प्रसङ्गवश दिखाया है । जिसके घर अतिथियों का योग्य सत्कार नहीं होता, उसके सभी पुण्यों का फल नष्ट हो जाता है अर्थात् अतिथि-सेवा न करने से सद्गुणों का प्रकाश न होने से पाप-वृद्धि होती है । उस घर में धीरे-धीरे पुण्य कर्मों की समाप्ति से पाप-कर्म बढ़ने लगते हैं और दुःखों की वृद्धि हो जाती है । अतः विद्वान् ब्रह्मवेत्ता तथा धर्मात्मा अतिथियों का सदा सत्कार करना चाहिए ।

यद्यपि इस आख्यायिका के गुरु-शिष्य संवाद में नचिकेता की अपेक्षा यम का स्थान ऊंचा तथा प्रशस्य है । और यम बाहर जाने के कारण ही अतिथि-सत्कार नहीं कर सके थे, उन्होंने कोई जान-बूझकर दोष नहीं किया था, पुनरपि अतिथि-सत्कार की सब अवस्थाओं में अपरिहार्यता तथा बड़ों को भी छोटों का यथायोग्य सम्मान अवश्य करना चाहिए, यह प्रदर्शन करने के लिए ही यहां अतिथि के असत्कार के

दोषों की परिगणना की गई है ।

इस श्लोक में नचिकेता को जन्म के अभिप्राय से 'ब्राह्मण' नहीं कहा गया है, किन्तु ब्रह्म-ज्ञान का योग्याधिकारी तथा ब्रह्म-ज्ञान का परम जिज्ञासु समझकर 'ब्राह्मण' शब्द का व्यवहार किया गया है । क्योंकि ब्राह्मणादि तीन वर्णों को 'द्विज' कहते हैं और द्विज का अर्थ है जिसका दुबारा जन्म हो । और दूसरा जन्म निषेकादि संस्कारों तथा यज्ञादि से होता है । संस्कार से हीन व्यक्ति द्विज नहीं हो सकता । वह एकजाति होने से शूद्र ही होता है । देखिए इस में मनु जी का प्रमाण—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।

चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ (मनु० १०।४)

अर्थ—ब्राह्मण; क्षत्रिय, वैश्य ये तीन वर्ण संस्कार होने से द्विजातियां हैं । और चतुर्थ शूद्र एकजाति=एक जन्म वाला ही होता है । पांचवां कोई वर्ण नहीं है ।

स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।

महायज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः ॥ (मनु० २।२८)

इस श्लोक का महर्षि दयानन्दकृत अर्थ देखिए—“रज-वीर्य के योग से ब्राह्मण-शरीर नहीं होता किन्तु.....(स्वाध्यायेन) पढ़ने-पढ़ाने (जपैः) विचार करने-कराने, नानाविध होम के अनुष्ठान, सम्पूर्ण वेदों को शब्द, अर्थ, सम्बन्ध, स्वरोच्चारण-सहित पढ़ने-पढ़ाने (इज्यया) पौर्णमासी इष्टि आदि के करने, पूर्वोक्त विधिपूर्वक (सुतैः) धर्म से सन्तानोत्पत्ति (महायज्ञैश्च) पूर्वोक्त ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, वैश्वदेवयज्ञ और अतिथियज्ञ (यज्ञैश्च) अग्निष्टोमादि यज्ञ, विद्वानों का सङ्ग, सत्कार, सत्यभाषण, परोपकार आदि सत्कर्म और सम्पूर्ण शिल्पविद्यादि पढ़ के दुराचार छोड़ श्रेष्ठाचार में वर्तने से (इयम्) यह (तनुः) शरीर (ब्राह्मी) ब्राह्मण का (क्रियते) किया जाता है ।” (सत्यार्थ० चतुर्थ०)

समीक्षा—श्री शङ्कराचार्य जन्मजात ब्राह्मण का ही ब्रह्मविद्या में अधिकार बताते हुए लिखते हैं—“ब्राह्मणस्यैव विशेषतोऽधिकारः सर्वत्यागेन ब्रह्मविद्यायामिति ।” (मुण्डको० १।२।१२) अर्थात् ब्रह्मविद्या में ब्राह्मण ही का अधिकार होता है सब कुछ त्याग करने से ।

यह उनका कथन सत्य नहीं है । क्योंकि जिस किसी भी मनुष्य का शरीर उपर्युक्त संस्कारों से ब्राह्मण का किया जाता है, उसी को मोक्ष

का अधिकार है । चाहे उसका किसी भी वर्ण में जन्म क्यों न हुआ हो।

विद्वान् ब्राह्मण के घर पर भूखा रहने तथा उसके अतिथि-सत्कार के न होने रूप दोष को सुनकर यमाचार्य नचिकेता से प्रार्थना करते हैं—

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः ।

नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन् स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व ॥१९॥

पदार्थ—(ब्रह्मन्) हे ब्रह्मज्ञान के योग्य नचिकेता ! तुम (अतिथिः) अतिथि होने से (नमस्यः) नमस्कार करने योग्य हो । अतः (ते) तुम्हारे लिए मेरा (नमः, अस्तु) प्रणाम प्राप्त हो और (मे) मेरा (स्वस्ति) कल्याण (अस्तु) होवे अर्थात् आप, प्रसन्न होकर मेरा अपराध क्षमा करें। (ब्रह्मन्) हे ब्राह्मणरूप अतिथे (यत्) जिस कारण से (मे) मेरे (गृहे) घर पर (तिस्रः रात्रीः) तीन रात (अनश्नन्) विना कुछ खाए (अवात्सीः) तुमने निवास किया है (तस्मात्) इस कारण से (प्रति) एक-एक रात के प्रति (त्रीन्, वरान्) तीन वरदानों को (वृणीष्व) मांगो।

भावार्थ—नचिकेता अपने पिता की आज्ञा के अनुसार यमाचार्य के घर पर पहुंचा, किन्तु यमाचार्य के घर पर न होने से तीन दिन तक उनकी प्रतीक्षा में निराहार ही रहा । यमाचार्य जब घर पर आए तो उन्होंने अपने घर पर अतिथि के सत्कार न होने से बहुत पश्चात्ताप किया और नचिकेता को प्रणाम करके कहने लगे कि मुझे प्रसन्न होकर ऐसा आशीर्वाद दीजिए कि जिससे मेरा कल्याण होवे और अपने अपराध की क्षमा मांगते हुए यम ने नचिकेता को एक-एक रात्रि के लिए एक-एक करके तीन वरदान प्रदान किये ।

यहां भी यम नचिकेता के आख्यानक का एक सुन्दर व शिक्षाप्रद आलङ्कारिक वर्णन किया गया है । यम परमात्मा का नाम है, यहां उस सर्वव्यापक परमेश्वर के गृह=घर का अभिप्राय यह है कि 'गृह' का अर्थ है 'गृह्णातीति गृहम्' जो सब को ग्रहण करता है अर्थात् व्यापकरूप से समस्त पदार्थों का नियन्त्रण किए हुए है, इसलिए उसे "अत्ता चराचरग्रहणात्" (वेदान्त०) चर-अचर जगत् को ग्रहण करने के कारण 'अत्ता' कहते हैं। उस गृह=ग्रहण करने वाले परमात्मा के आश्रय में रहना ही उसके घर में रहना है । अथवा परमात्मा का गृह=उपासना का स्थान हृदय है, जिसे 'ब्रह्मपुर' कहा गया है । इस हृदय में जो जिज्ञासु होकर अनश्नन्=भोग

न करता हुआ अर्थात् समस्त इन्द्रियों के विषयों से पृथक् होकर परमात्मा का ध्यान करता है, और तिस्रो रात्रीः=शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक त्रिविध^१ अशुद्धियों का परित्याग कर देता है, तब यम=परमात्मा जिज्ञासु पर अनुग्रह कर के वरदान देता है ।

इस श्लोक में यमाचार्य नचिकेता से ‘नमस्ते’ कहकर सत्कार करते हैं । परस्पर मिलते समय छोटे-बड़ों को ‘नमस्ते’ शब्द का ही व्यवहार करना चाहिए । जो पौराणिक सनातनधर्मी बन्धु इस शब्द के स्थान पर इससे भिन्न ‘जय राम’ ‘राधेश्याम’ आदि शब्दों का मिलते समय उच्चारण करते हैं, वे प्राचीन शास्त्रीय श्रेष्ठ परम्परा का उल्लङ्घन करने के कारण प्रत्यवाय के भागी होते हैं । महर्षि दयानन्द ने इस शिष्ट तथा शास्त्रीय परम्परा को पुनरुज्जीवित किया । और पौराणिक-बन्धुओं की इस भ्रान्ति का भी यहां स्पष्ट रूप से निराकरण हो जाना चाहिए कि बड़ों को छोटों के लिए ‘नमस्ते’ का प्रयोग नहीं करना चाहिए । यमाचार्य गुरु-स्थानीय होने से बड़े हैं और उन्होंने शिष्य नचिकेता को यहां स्वयं ‘नमस्ते’ की है ।

यमाचार्य के कहने पर नचिकेता प्रथम वरदान मांगता है—

शान्तसङ्कल्पः सुमना यथा स्याद् वीतमन्युर्गौतमो माभिमृत्यो !

त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत् प्रतीत एतत् त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥१॥१०

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (गौतमः) गौतमवंशी मेरा पिता (मा, अभि) मेरे प्रति (शान्त-सङ्कल्पः) शान्त चित्तवाला (सुमनाः) प्रसन्न मन वाला (वीतमन्युः) क्रोध से रहित (यथा) जैसे (स्यात्) होवे और (त्वत्प्रसृष्टम्) आपके भेजे हुए (मा, अभि) मेरे प्रति (प्रतीतः) प्रसन्नता से पहचानकर (वदेत्) कुशलक्षेमादि पूछता हुआ बोले—(एतत्) यह (त्रयाणाम्) तीन वरों में से (प्रथमम्) पहला (वरम्, वृणे) वर मांगता हूं।

(१) त्रिविध अशुद्धियां—“शरीरेण प्रवर्तमानो हिंसा-स्तेय-प्रतिषिद्ध-मैथुनान्याचरति । वाचा=अनृत-परुष-सूचनाऽसम्बद्धानि । मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति ।” (न्याय० वात्स्यायनभाष्ये)

अर्थात् शारीरिक अशुद्धियां ये हैं—हिंसा=वैरभाव से दुःख देना । स्तेय=मन, वचन, कर्म से चोरी करना और शास्त्रविरुद्ध आचरण करना । वाचिक=झूठ बोलना, कठोर बोलना, चुगली करना और प्रमत्तवत् अधिक बोलना । मानसिक दूसरों से द्रोह करना, दूसरों की वस्तुओं पर गिद्ध की भांति लालसा रखना, और वेद व ब्रह्म पर विश्वास न करना ।

पदार्थ—(स्वर्गे, लोके) स्वर्ग-लोक में (किञ्चन) कुछ भी

पौराणिक बन्धु दान, पुण्य, श्राद्ध, तर्पण, गोदानादि वैतरणी नदी को तरने के लिए करते हैं। पौराणिकों के ही समान दूसरे ईसाई, मौहम्मद आदि भी ऐसे ही स्थान-विशेषों को स्वर्ग व नरक माने हुए हैं।

महर्षि दयानन्द ने जहां दूसरी बहुत सी भ्रान्तियों का निवारण किया है। वहां इस सम्बन्ध में भी बहुत स्पष्ट करके लिखा है—

(क) “यही सुखविशेष स्वर्ग और विषय-तृष्णा में फंसकर दुःखविशेष भोग करना नरक कहाता है। ‘स्वः’ सुख का नाम है। ‘स्वः सुखं गच्छति यस्मिन् स स्वर्गः।” “अतो विपरीतो दुःखभोगो नरक इति।” जो सांसारिक सुख है, वह सामान्य स्वर्ग और जो परमेश्वर की प्राप्ति से आनन्द है वही विशेष स्वर्ग कहाता है।”

(सत्यार्थ० नवम समु०)

(ख) “स्वर्ग सुखभोग और नरक दुःखभोग का नाम है।”

(सत्यार्थ० द्वादश समु०)

(ग) “स्वर्ग” नाम सुख-विशेष भोग और उसकी सामग्री की प्राप्ति का है। “नरक” जो दुःखविशेष भोग और उसकी सामग्री को प्राप्त होना है।”

(स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाशः)

महर्षि के उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि स्वर्ग व नरक कोई स्थान-विशेष नहीं हैं, प्रत्युत सुख-भोग तथा दुःखभोग के नाम हैं। और यह भी स्पष्ट हो रहा है कि ‘स्वर्ग’ शब्द सांसारिक सुख तथा मोक्ष के सुख दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। हमें शास्त्रों में प्रकरणानुसार ही अर्थ लगाने चाहिए।

‘स्वर्ग’ शब्द का प्रयोग शास्त्रों में भी सांसारिक तथा मोक्ष के सुखों के लिए हुआ है। जैसे—

(क) दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह । (मनु०)

अपना तथा पितरों का जितना सुख है, यह सब स्त्री ही के आधीन होता है।

(ख) सः सन्धार्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षयमिच्छता ॥ मनु०॥

हे स्त्रीपुरुषो ! जो तुम अक्षय मुक्ति का सुख और इस संसार के सुख की इच्छा रखते हो तो नित्य प्रयत्न से गृहाश्रम को धारण करो।

उपनिषत्कार के अभिप्राय के अनुसार ‘स्वर्ग’ शब्द का प्रयोग सुखविशेष के लिए हुआ है, स्थान-विशेष के लिए नहीं। उपनिषद् में

नचिकेता के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—

(क) त्रिकर्मकृत्^१ तरति जन्म-मृत्यू ॥

(ख) ब्रह्मजज्ञः^२ वेदमीड्यं विदित्वा निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति ॥

(ग) स मृत्युपाशान् पुरतः प्रमोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥

(कठो० १।१७, १८)

जो यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन धार्मिक कर्मों को करता है, वह जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट जाता है। जो सर्वज्ञ देव परब्रह्म को जान लेता है, वह शोकमुक्त होकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है। और परब्रह्म को जानने वाला मृत्यु=दुःख के बन्धनों से मुक्त होकर स्वर्गलोक में आनन्द से रहता है।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि यहां स्वर्ग से अभिप्राय सुखविशेष (मोक्ष) से ही है, स्थान से नहीं। क्योंकि उत्तर या वरदान प्रश्नानुरूप ही होना चाहिए।

स्वर्गादि शब्दों के अर्थ में भ्रान्ति का कारण—स्थानविशेष की भ्रान्ति का कारण 'लोक' शब्द भी है। लोक शब्द को देखकर प्रायः स्थान-विशेष ही अर्थ लगाया जाता है। किन्तु यह उनकी भ्रान्ति ही है क्योंकि इसका प्रयोग स्थान तथा सुख दोनों के लिए होता है। पृथिवी-लोकादि में लोक शब्द स्थान का वाची भी है किन्तु स्वर्गलोक में नहीं। क्योंकि सुख हमारे कर्मों का फल होता है, उसका किसी स्थान से सम्बन्ध जोड़ना ठीक नहीं। जो स्थान एक मनुष्य के लिए सुखद प्रतीत होता है, वही दूसरे के लिए दुःखद भी होता है। यह स्थानविशेष अर्थ प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है। ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहां सुख ही सुख हो, दुःख न हो। आज के वैज्ञानिक जगत् में ऐसी कल्पनाओं पर कैसे विश्वास किया जा सकता है। विवाह-संस्कार में वधू कहती है—

(क) “शिवा अरिष्टा पतिलोकं गमेयम् ।”

अर्थात् मैं आज से स्वस्थ रहती हुई पति के सुख को प्राप्त करूँ अर्थात् पति के सुख को ही अपना सुख मानूँ।

(ख) “ऋतस्य यौनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टान्त्वा सह पत्या

१. त्रिकर्मकृत्=इज्याध्ययनदानानां कर्त्ता तरति अतिक्रामति जन्ममृत्यू ॥

(कठो० १।१७ शा० भाष्य)

२. ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञः ॥

(शाङ्करभाष्ये)

दधामि ।”—इस मन्त्र में “सुकृतस्य लोके” पद पुण्य-कर्मों के सुख अर्थ का ही बोध करा रहा है ।

(ग) आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतु कृणुष्व॥

इस मन्त्र में भी अमृत=नष्ट न होने वाले लोक=सुख के लिए कहा है । इत्यादि वेदादि शास्त्रों में ‘लोक’ शब्द का प्रयोग ‘सुख’ अर्थ में भी हुआ है। आचार्य शङ्कर भी ‘लोक’ शब्द का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

(क) लोक्यते दृश्यते भुज्यते इति कर्मफलं लोक उच्यते ॥

(मु० १।२।१)

जो कर्म-फल भोगा जा रहा है, उस कर्म-फल को ही ‘लोक’ शब्द से कहा जाता है । (ख) ब्रह्मलोकः स्वर्गः प्रकरणात् (मु० १।२।६) अर्थात् ‘ब्रह्मलोक’ का अर्थ स्वर्ग है । (ग) क्षीणलोकाः=क्षीणकर्मफलाः (मु० १।२।९) अर्थात् ‘क्षीणलोक’ शब्द का अर्थ है कि जिसके कर्मों का फल क्षीण हो गया है । इस प्रकार ‘लोक’ शब्द का अर्थ ‘सुख’ अथवा ‘कर्मफल’ भी है ।

‘स्वर्ग’ व ‘नरक’ शब्दों के ‘स्थान-विशेष’ की कल्पना में शब्दों की समानता भी प्रमुख कारण हुआ है । जैसे नाक तथा विष्टप शब्द द्युलोक तथा मोक्ष दोनों के लिए प्रयुक्त हैं । निरुक्तकार लिखते हैं—

१—(सूर्यपरक) नाक आदित्यो भवति । नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः ।

२—(मोक्षपरक) अथ द्यौः, कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्येत। पुण्यकृतो ह्येव तत्र गच्छन्ति ।

१—(सूर्यपरक) विष्टप आदित्यो भवति, आविष्टो रसान्, आविष्टो भासं ज्योतिषाम्। आविष्टो भासेति वा ।

२—(मोक्षपरक) अथ द्यौः, आविष्टा ज्योतिभिः, पुण्यकृद्भिश्च ॥

अर्थात् ‘नाक’ शब्द सूर्य के लिए इसलिए प्रयुक्त है क्योंकि यह रसों व प्रकाश का नेता=प्रापक है और मोक्ष अर्थ में इसलिए है कि ‘कम्’ सुख-वाचक है, उससे नञ् समास किया—अकम्=दुःखम् । और फिर नञ् समास करने पर ‘नाकम्=दुःखरहित’ शब्द प्रसिद्ध हुआ । इसी प्रकार ‘विष्टप’ शब्द भी द्वयर्थक है । सूर्य का वाचक इसलिए है कि यह रसों में प्रविष्ट तथा प्रकाश से युक्त है और मोक्ष अर्थ इसलिए है क्योंकि वहां परमात्मा का प्रकाश है तथा पुण्य कर्म करने वाले उसे प्राप्त करते हैं।

नाकादि शब्दों की भाँति 'स्वर्ग' शब्द के भी दो अर्थ हैं—(१) सुख-विशेष तथा (२) सूर्यलोक । क्योंकि सूर्यलोक ऊपर है, अतः स्वर्ग की कल्पना भी ऊपर ही की गई । जबकि भ्रमणशील लोक-लोकान्तरों को देखकर किसी को भी ऊपर या नीचे कहना भी उचित नहीं है ।

‘स्वर्ग’ शब्द का ‘सूर्यपरक’ अर्थ देखिये—

स्वर्गो वै लोकः सूर्यो ज्योतिरुत्तमम् ॥ (शत० १२।१।२।८)

स्वर्गो वै लोको ब्रध्नस्य विष्टपम् ॥ (ऐत० ४।४)

बृहद् वै स्वर्गो लोकः ॥ (तै० १।२।२।४)

मध्ये ह संवत्सरस्य स्वर्गो लोकः ॥ (शत० ६।७।४।११)

इस प्रकार 'स्वर्ग-लोक' की स्थान-विशेष अर्थ की कल्पना में दो मुख्य कारण प्रतीत होते हैं—१ लोक शब्द । २ सूर्य-परक अर्थ । यद्यपि इनसे भिन्न मनुष्यों को बहकाकर स्वार्थसिद्धि तथा अज्ञान आदि भी कारण हैं, किन्तु इस कल्पना को जो बल तथा प्रवाह प्राप्त हुआ है, उसके उपर्युक्त दो ही कारण हैं ।

स्वर्ग के अर्थ 'सुख' में भी भ्रान्ति—

कुछ विद्वानों का यह मत है कि इन्द्रियों के सुख को 'सुख' और मोक्ष के सुख को 'आनन्द' कहते हैं । उनके विचार में यह भेद 'सुख' शब्द के निर्वचन से होता है । उनका कथन यह है कि 'ख' इन्द्रियों को कहते हैं, क्योंकि ये शरीर में खोदी हुई सी हैं । निरुक्त में सुख शब्द का यह निर्वचन किया है—“सुखं कस्मात् ? सुहितं खेभ्यः । खं पुनः खनतेः ।” (निरुक्त ३।१३)

परन्तु 'इन्द्रियों को जो अच्छा लगे, उसे सुख कहते हैं' यह अर्थ महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों के अनुकूल नहीं है । महर्षि ने सांसारिक तथा मौक्तिक दोनों सुखों के लिए 'सुख' शब्द का प्रयोग किया है । जैसे—

मौक्तिक आनन्द के लिए 'सुख' शब्द का प्रयोग—

- (क) “सब दुःखों की निवृत्ति और परमानन्द को प्राप्त होकर मुक्ति का सुख होना ।”
- (ख) “इसी से जीव मुक्ति में सुख भोगता है ।”
- (ग) “अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन



जीवों में नहीं, इसलिए **अनन्त सुख** नहीं भोग सकते ।”

(घ) “हम को मुक्ति का सुख भुगाकर पुनः इस संसार में जन्म देता०।”

(ङ) “जो ये ब्रह्मलोक—अर्थात् दर्शनीय परमात्मा में स्थित होके **मोक्ष-सुख** को भोगते हैं ।”

(च) “जो मुक्ति में जीव का लय होता तो **मुक्ति का सुख** कौन भोगता ।” (सं० प्र० नवमसमु०)

(छ) “पारमार्थिक सुख को प्राप्त होके० ।” (सं० वि० गृहाश्रम०)

सांसारिक सुख के लिए ‘आनन्द’ शब्द का प्रयोग—

(क) “और सर्वदा आनन्द में रहें ।” (सं० वि० सामान्य०)

(ख) “मोदमानौ=आनन्दित होकर गृहाश्रम में प्रीतिपूर्वक वास करो ।” (सं० वि० गृहाश्रम०)

(ग) “हसामुदौ=हास्य और आनन्दयुक्त.....गृहाश्रम के व्यवहारों के पार होओ ।” (सं० वि० गृहाश्रम०)

(घ) “जिससे तू और मैं सदा उन्नतिशील होकर आनन्द में रहें ।” (सं० वि० गृहाश्रम०)

(ङ) “तुम्हारा (सौमनसः) मन का आनन्दयुक्त शुद्धभाव (अस्तु) सदा बना रहे ।” (सं० वि० गृहाश्रम०)

परमात्मा के लिए ‘सुख’ शब्द का प्रयोग—

(क) “कस्मै=सुखस्वरूपदेवाय=सकलैश्वर्य के देने हारे परमात्मा के लिए ।” (सं० वि० सामान्य०) क्या परमात्मा भी इन्द्रियों के सुख को ग्रहण करता है ?

इस प्रकार महर्षि दयानन्द के लेखों से स्पष्ट है कि सुख व आनन्द शब्दों के प्रयोग में उन्होंने कोई भेद नहीं किया है । और महर्षि ने यह भेद इसलिए भी नहीं किया, क्योंकि दर्शनकार भी ऐसा भेद नहीं मानते हैं । यथार्थ में सुख-दुःख की उपलब्धि का साधन मन है, बाह्येन्द्रियां नहीं। और ‘मन’ को अन्तःकरण अथवा अन्तरिन्द्रिय अवश्य शास्त्रकारों ने माना है, किन्तु उसे ‘ख=खोदी हुई सी’ नहीं कहा जा सकता । अतः सुख के शाब्दिक अर्थ की सङ्गति नहीं लगती । देखिए कतिपय प्रमाण—

दर्शन-शास्त्रों में ‘सुख’ शब्द का प्रयोग—

(१) “आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यम् ? अनिन्द्रियार्थ—



सन्निकर्षजं हि तदिति ॥” (न्याय० १।१।४ वात्स्यायनभाष्यम्)

अर्थात् प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मादि तथा सुखादि के प्रत्यक्ष का भी लक्षण कहना चाहिए ? क्योंकि ये इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष नहीं होते । यहां सुखादि को इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं माना, अपितु—“सुखाद्युप-लब्धिसाधनमन्तःकरणं मनः” ऐसा मानकर मन को माना है । समस्त न्यायदर्शन के अनुशीलन करने से यह भी स्पष्ट होता है—कि इस शास्त्र में सांसारिक तथा मौक्तिक दोनों सुखों के लिए सुख शब्द का ही प्रयोग किया है । किन्तु सांसारिक सुख को विष-सम्पृक्तान्नवत् कहकर त्याज्य बताया है^१ और वास्तविक सुख मोक्ष को ही मानते हुए लिखा है—

‘न सुखादन्यद् निःश्रेयसमस्ति ।’ (न्याय० ४।१।५८ वात्स्या०)

अर्थात् जिसे सुख कहते हैं, मोक्ष उससे भिन्न नहीं है ।

(२) वैशेषिक-दर्शन में सुख को दुःख का प्रतिद्वन्द्वी बताते हुए लिखा है—

इष्टानिष्टकारणविशेषाद् विरोधाच्च मिथः सुखदुःखयोरर्थान्तर-
भावः ॥ (वैशे० १०।१।१)

अर्थात् सुख-दुःख दोनों भिन्न-भिन्न तथा परस्पर विरोधी हैं । सुख की उत्पत्ति इष्ट कारण से तथा दुःख की उत्पत्ति अनिष्ट कारण से होती है । दुःख के नाश होने पर सुख की उत्पत्ति होती है । और जो सांसारिक सुख हैं, वे दुःखों में सुखों का अभिमान मात्र ही हैं यथार्थ नहीं । और सुख की उपलब्धि का साधन बाह्येन्द्रियां नहीं हैं । वैशेषिकदर्शन के भाष्यकार प्रशस्तमुनि ने बहुत ही स्पष्ट लिखा है—

बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नास्त्वन्तःकरणग्राह्याः ॥

अर्थात् बुद्धि=ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष तथा प्रयत्न ये गुण अन्तःकरण (मन) से गृहीत होते हैं ।

(३) योगदर्शन में ‘सुख’ शब्द का प्रयोग दोनों सुखों के लिए है—

(क) सर्वाश्चैव वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मकाः । सुखदुःख-
मोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः ॥

(योग० समाधिपाद सू० ११ । व्यासभाष्य)

(ख) सुखानुशयी रागः ॥ यो० साधन० सू० ७॥

१. यथा मधुविषसम्पृक्तम् अन्नमनादेयमिति एवं सुखं
दुःखानुषक्तमनादेयमिति ।” (न्याय० १।१।२ वात्स्यायनभाष्ये)



(ग) परिणामतापसंस्कारदुःखैः.....दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥

(यो० साधन० १५)

विषयसुखं चाविद्येत्युक्तम् । (यो० २।१५ व्यास०)

(घ) यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् इति ॥

(यो० साधन ४२ । व्यास०)

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि सुख शब्द सांसारिक तथा मौक्तिक दोनों के लिए योगदर्शन में प्रयुक्त है ।

(४) वेदान्तदर्शन में भी सुख द्विविध-सुख के अर्थ में प्रयुक्त है। जैसे—

सुखं विशिष्टाभिधानादेव च ॥ (वेदान्त० १।२।१५)

इस सूत्र की व्याख्या में श्री स्वामी दर्शनानन्द जी महाराज लिखते हैं—“सुख मुख्य तो ब्रह्म ही से प्राप्त होता है क्योंकि प्रकृति परतन्त्र होने से सुख से शून्य है । इस कारण ब्रह्म स्वतन्त्र और सुख से परिपूर्ण बतलाया गया है ।”

यहां ब्रह्म के सान्निध्य से मिलने वाले आनन्द को भी ‘सुख’ शब्द से कहा गया है । इसी दर्शन के भाष्य में (वेदान्त० १।१।९) स्वामी दर्शनानन्द जी लिखते हैं—

“(प्रश्न)—सुख और आनन्द में कुछ भेद है या सुख और आनन्द दोनों एक हैं ? (उत्तर)—सुख वह होता है जब प्रकृति मन किसी विषय के साथ सम्बन्ध पैदा करके कुछ समय के लिए स्थिर होता है..... आनन्द वह है जब मन के शुद्ध होने से या मन के न होने से जीवात्मा ब्रह्म से साक्षात् आनन्द गुण को ग्रहण करता है” । यहां सुख और आनन्द में यह अन्तर किया है कि प्रकृति के सम्पर्क से सुख होता है और परमात्मा के सम्पर्क से आनन्द मिलता है । किन्तु यह विवेचन वेदान्तदर्शन के भी विरुद्ध है, क्योंकि वेदान्त के उपर्युक्त सूत्र में ब्रह्म से सम्पर्क से मिलने वाले आनन्द को भी सुख शब्द से कहा है । अतः सुख व आनन्द का उपर्युक्त भेद विद्वन्-मान्य नहीं हो सकता ।

(५) उपनिषदों में भी ‘सुख’ शब्द का प्रयोग मुक्ति के आनन्द के लिए आया है । जैसे—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत् ।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

अर्थात् परब्रह्म के सान्निध्य से जो सुख मिलता है, उसे वाणी से नहीं कहा जा सकता । उसे तो स्वयम् अन्तःकरण से ही ग्रहण किया जाता है ॥

(६) महर्षि दयानन्द ने ‘स नो बन्धुर्जनिता०’ (य० ३२।१०) की व्याख्या में लिखा है—“जिसमें देव अर्थात् विद्वान् लोग मोक्ष को प्राप्त होके सदा आनन्द में रहते हैं और वे तीसरे धाम अर्थात् शुद्ध सत्त्व से सहित होके सर्वोत्तम सुख में सदा स्वच्छन्दता से रमण करते हैं” ॥

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

ऋ० भू० के इसी मुक्ति-विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

“इति मुक्तैः प्राप्तव्यस्य मोक्षस्वरूपस्य सच्चिदानन्दादिलक्षणस्य परब्रह्मणः प्राप्त्या जीवस्सदा सुखी भवतीति बोध्यम् ॥”

अर्थात् मुक्त जीवों से प्राप्त करने योग्य मोक्ष-स्वरूप सच्चिदानन्द आदि लक्षणों से युक्त परब्रह्म की प्राप्ति से जीवात्मा सदा सुखी होता है, इस प्रकार सदा जानना चाहिए ।

इस उपर्युक्त दर्शनादिशास्त्रों के विवेचन से स्पष्ट है कि ‘सुख’ शब्द का प्रयोग उसी प्रकार सांसारिक तथा मोक्ष दोनों सुखों के लिए प्रयुक्त हुआ है, जैसे ‘स्वर्ग’ शब्द का प्रयोग होता है । अतः सुख और आनन्द शब्दों के अर्थों में जो अन्तर=भेद करते हैं, उन्हें उपर्युक्त समस्त प्रमाणों पर अवश्य विचार करना चाहिए ।

अब नचिकेता स्वर्गप्राप्ति के साधनभूत अग्नि-विद्या को जानने के लिए दूसरा वरदान मांगता है—

स त्वमग्निःस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तः श्रद्धधानाय मह्यम् ।

स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद् द्वितीयेन वृणे वरेण ॥१॥१३

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (सः, त्वम्) सो आप (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग-प्राप्ति के लिए साधनभूत (अग्निम्) यज्ञाग्नि को (अध्येषि) अधिकार पूर्वक जानते हो (तम्) उस यज्ञाग्नि का (श्रद्धधानाय^१) सत्य-विश्वास करने वाले (मह्यम्) मेरे लिए (प्रब्रूहि) उपदेश कीजिए ।

१. ‘श्रद्धा’ शब्द का अर्थ ‘चित्त की प्रसन्नता’ भी होता है अर्थात् शुद्ध मन । जैसे कि योगदर्शन में (समाधि० सू० २०) की व्याख्या में व्यासमुनि लिखते हैं—“श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः । सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ।”

क्योंकि (स्वर्गलोकाः) स्वर्ग को प्राप्त मनुष्य (अमृतत्वम्) दुःखरहित जीवन को (भजन्ते) भोगते हैं (एतत्) यह (द्वितीयेन) दूसरे (वरेण) वर से (वृणे) मांगता हूँ ।

भावार्थ—यहां नचिकेता ने अपने दूसरे वरदान का उपसंहार करते हुए पुनः कहा है कि हे यमाचार्य ! आप स्वर्ग=सुख के साधनभूत अग्नि को भली-भांति जानते हो और मैं बहुत ही श्रद्धा से जिज्ञासुभाव से आप से उस अग्नि को जानना चाहता हूँ । अतः आप मुझे योग्य शिष्य समझकर अवश्य उपदेश कीजिए । और यह अग्नि यज्ञाग्नि ही है, जिसके द्वारा समस्त वैदिक-कर्मों का अनुष्ठान किया जाता है, तभी वह स्वर्ग का साधन बन पाती है ।

यहां कई भाष्यकार 'अग्नि' शब्द से ज्ञानाग्नि का ग्रहण करते हैं, किन्तु यह उपनिषत् के अभिप्राय से प्रतिकूल होने से सत्य नहीं है । क्योंकि आगे (कठो० १।१५) हवन की अग्नि के लिए इष्टका=ईंटों के चयन की बात कदापि सङ्गत न हो सकेगी ।

अब यमाचार्य नचिकेता के प्रति स्वर्ग-अग्नि का उपदेश करते हैं—

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निन्नचिकेतः प्रजानन् ।

अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतन्निहितं गुहायाम् ॥१।१४॥

पदार्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (स्वर्ग्यम्) स्वर्ग की प्राप्ति के साधनभूत (अग्निम्) अग्निहोत्रादि को (प्रजानन्) जानता हुआ (तत्) उस अग्नि को (ते) तेरे लिए (प्रब्रवीमि) प्रकृष्टता से उपदेश करता हूँ। तुम (मे) मेरे वचनों को (उ) ध्यान से (निबोध) सुनकर ज्ञान प्राप्त करो । (अथो) इसके अनन्तर (त्वम्) तुम (एनम्) इस स्वर्ग-अग्नि को, जो (अनन्तलोकाप्तिम्) अविनश्वर या निर्बाध सुखों की प्राप्ति का साधन है और (प्रतिष्ठां) वैदिककर्मों की प्रतिष्ठा=आश्रयभूत अथवा सूर्यादिरूप में जगत् का आश्रयभूत है, उसे ही (गुहायाम्) जीवों की हृदय-रूप गुफा में जाठराग्नि के रूप में जिसके आश्रय से समस्त शरीर में रुधिरादि की गति होती है, (निहितम्) स्थित (विद्धि) जानो ।

भावार्थ—स्वर्ग-प्राप्ति के प्रमुख साधन यज्ञादि वैदिक कर्म हैं । और ये सब भौतिकाग्नि के सम्पर्क से ही सम्पन्न होते हैं । ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों के सब वैदिक कर्मों का आश्रय यह अग्नि ही है । यही

अग्नि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश का हेतु है ? सूर्यरूप में यही अग्नि जगत् को जीवन प्रदान करती है और जठराग्नि रूप में प्राणियों के जीवन का आधार है ।

समीक्षा—आचार्य शङ्कर ने ‘निहितं गुहायाम्’ का अर्थ ‘बुद्धौ निविष्टम्=बुद्धि में निविष्ट’ किया है । यह अर्थ प्रकरणविरुद्ध होने से सत्य नहीं है । क्योंकि अग्नि जठराग्नि के रूप में हृदय में ही स्थित है, बुद्धि में नहीं । इसी प्रकार ‘प्रतिष्ठाम्’ पद का अर्थ ‘आश्रयं जगतो विराड्रूपेण’ विराटरूप में जगत् का आश्रय अर्थात् परमात्मा-रूप अग्नि अर्थ किया है । यह भी पूर्वापर की सङ्गति से विरुद्ध होने से मिथ्यार्थ ही जानना चाहिए ।

उक्त-प्रकार से यज्ञादि स्वर्ग के साधनों का आश्रयभूत अग्नि की स्तुति करके यमाचार्य नचिकेता के प्रति अग्नि-चयन का प्रकार बताते हैं—

लोकादिमग्निं^१ तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्या यथा वा ।

स चापि तत् प्रत्यवदद् यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः ॥११५॥

पदार्थ—(तस्मै) उस नचिकेता के लिए यमाचार्य ने (तम्) उस पूर्वोक्त (लोकादिम्) देखने में आदिकारण (अग्निम्) यज्ञाग्नि का (उवाच) उपदेश किया कि यज्ञ में (याः) जो (वा) और (यावतीः) जितनी और (यथा) जैसी (इष्टकाः) चयनीय ईंटों की आवश्यकता होती है, अर्थात् वेदि-रचना तथा यज्ञ की समस्तविधियों का यमराज ने नचिकेता के लिए व्याख्यान किया । यहां ‘इष्टकाः^२’ शब्द उपलक्षणार्थक है । इसी प्रकार के यज्ञ के सभी साधनों तथा विधियों को बताया । (च) और (सः, अपि) उस नचिकेता ने भी (यथा, उक्तम्) जैसे उपदेश किया था, (तत्) उस को वैसे ही (प्रत्यवदत्) यथाविधि यमराज को सुनाया । (अथ) इसके बाद अस्य, (तुष्टः) इस नचिकेता की विलक्षण बुद्धि को देखकर प्रसन्न (मृत्युः) यमराज (पुनः, एव)

१. यहां भौतिकाग्नि को ‘लोकादिम्’ इसलिए कहा है—क्योंकि यह भौतिकाग्नि प्राणियों के लोकन=देखने में आदि कारण है । सूर्यादि भी अग्नि के ही रूप हैं, इनके बिना नेत्रेन्द्रिय भी नहीं देख सकती ।

२. ‘इष्टकाः’ शब्द का अर्थ महर्षि-दयानन्द ने यजु० १३।६१ में इस प्रकार किया है—‘इज्यन्ते सङ्गम्यन्ते कामा यैः पदार्थैः’ अर्थात् कामनाओं की प्राप्ति के साधनभूत पदार्थ ।

फिर भी (आह) वरदान के अतिरिक्त कुछ विशेष कहने लगे ।

भावार्थ—गुरु को शिक्षा देते समय यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि शिष्य उसको कितना ग्रहण कर रहा है । यहां नचिकेता के प्रति यम आचार्य ने यज्ञाग्नि का विस्तृत वर्णन किया, यज्ञ की विधि के साथ-साथ यज्ञकुण्ड में ईंटों की चयन-विधि भी बताई । जिसको नचिकेता ने समझकर ज्यों का त्यों गुरु को सुना भी दिया । शिष्य की इस योग्यता से यमाचार्य बहुत ही प्रसन्न हुए और वरदान से भिन्न भी प्रशंसा के रूप में विशेष बातें कहने लगे ।

कई भाष्यकार 'लोकादिम्' शब्द से अग्नि की उत्पत्ति सर्व प्रथम मानते हैं, किन्तु यह अर्थ उपनिषत् के विरुद्ध है । 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः०' (तैत्तिरीय ब्राह्मण अनु० १) के अनुसार आकाश और वायु के बाद अग्नि की उत्पत्ति बताई है । अतः यह अग्नि दर्शन=देखने का आदिकारण है, यही अर्थ उचित है ।

नचिकेता की यज्ञादि में विशेष रुचि तथा उसकी कुशाग्रबुद्धि को देखकर यमाचार्य कहते हैं—

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः ।

तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्गां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥११६॥

पदार्थ—शिष्य को योग्य समझकर (प्रीयमाणः) प्रसन्न होकर (महात्मा) अपने विषय में अव्याहत-बुद्धि वाले यमाचार्य (तम्) उस नचिकेता से (अब्रवीत्) कहने लगे कि—(इह) इस दूसरे वरदान के प्रसंग में (भूयः) और अधिक (अद्य) इस समय (तव) तेरे लिए (वरम्) वरदान (ददामि) देता हूँ कि (अयम्) यह (अग्निः) यज्ञाग्नि अथवा (यज्ञविद्या (तव, एव) तेरे ही (नाम्ना) नाम से अर्थात् नाचिकेताग्नि नाम से (भविता) प्रसिद्ध होगी (च) और तुम (इमाम्) इस (अनेकरूपाम्) आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि आदि अनेक रूपों वाली (सृङ्गाम्) प्रतिष्ठासूचक चिह्न अथवा माला को (गृहाण) ग्रहण करो ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता की योग्यता से प्रसन्न होकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यह अग्नि भविष्य में तुम्हारे ही नाम (नाचिकेताग्नि) नाम से प्रसिद्ध होगी । इससे तुम्हारा यश सदा बना रहेगा । और इस के विभिन्न रूप हैं, तुम इसे समस्तरूप में (माला रूप

में) जान गए हो अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ तथा वानप्रस्थ आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि रूप में तुम ने इस अग्नि को जान लिया है । इसके द्वारा वैदिक-कर्मों के अनुष्ठान से तुम्हें स्वर्ग=सुख विशेष की प्राप्ति होगी ।

अब यमाचार्य स्वर्ग-अग्नि के ज्ञान का फल कथन करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत् तरति जन्म-मृत्यू ।

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाथं शान्तिमत्यन्तमेति ॥१॥१७॥

पदार्थ—(त्रिणाचिकेतः) नचिकेता के लिए जिस अग्नि का उपदेश किया था, वह अग्नि 'नाचिकेत' नाम से प्रसिद्ध हो गई । और उसका ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि नाम से तीन अग्नियों का चयन करने के कारण 'त्रिणाचिकेत' नाम प्रसिद्ध हो गया। इस त्रिणाचिकेत-अग्नि का चयन करने वाला पुरुष (त्रिभिः) माता, पिता तथा आचार्य से (सन्धिम्) सत्सङ्गति या शिक्षा (एत्य) प्राप्त होकर (त्रिकर्मकृत्) यज्ञ, अध्ययन और दान इन तीन कर्मों का करने वाला (जन्म-मृत्यू) जन्म=जीव का शरीर-संयोग, और मृत्यु=शरीर से वियोग रूप दुःखों को (तरति) पार कर लेता है । वह (ब्रह्मज-ज्ञम्) ब्रह्म से उत्पन्न होने से वेद-ज्ञान के ज्ञाता (ईड्यम्) स्तुति करने योग्य (देवम्) परब्रह्म को (विदित्वा) जानकर और (निचाय्य) निश्चय करके (इमाम्) इस सर्वदुःखरहित (शान्तिम्) शान्ति को (अत्यन्तम्) अतिशयता से (एति) प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—इस श्लोक में कहा है यज्ञाग्नि को जानकर यज्ञ, अध्ययन तथा दान इन तीन कर्मों को करने वाला परब्रह्म को जानकर परम-शान्ति को प्राप्त करता है । त्रिकर्मकृत्=तीन कर्मों को करने वाला, यहां तीन कर्म कौन से हैं ? इसका उत्तर छन्दोग्योपनिषद् (प्र० २ । खं० २३) में दिया गया है—“त्रयो धर्म-स्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति।” अर्थात् धर्म के तीन स्कन्ध हैं । एक यज्ञ=उत्तम अग्निहोत्रादि कर्मों का करना, दूसरा विद्या का अध्ययन करना और तीसरा दान=विद्यादि उत्तम गुणों का देना । 'ब्रह्मज-ज्ञम्' पद का अर्थ है—ब्रह्मणो जायत इति ब्रह्मजः=वेदः, जानातीति ज्ञः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः । अर्थात् ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण वेद-ज्ञान को 'ब्रह्मज' कहते हैं अर्थात् जो वेद-ज्ञान का

दाता तथा सर्वज्ञ है, उस देव को जानकर ही शान्ति मिलती है । जैसा कि (यजु० ३१।१८) में कहा—“तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।” और “त्रिभिः सन्धिमेत्य” का अभिप्राय है कि मानव के तीन शिक्षक होते हैं। जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में कहा है—

“मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद ।” इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—“वस्तुतः जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य होवे, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है । वह कुल धन्य, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान्, जिसके माता और पिता धार्मिक विद्वान् हों । जितना माता से सन्तानों को उपदेश और उपकार पहुंचता है, उतना किसी से नहीं ।” (सत्यार्थ० द्वितीय-समुल्लासः)

समीक्षा—आचार्य शङ्कर ने ‘ब्रह्मजज्ञम्’ पद का अर्थ इस प्रकार किया है—

“ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः।”

अर्थात् ब्रह्म=हिरण्यगर्भ से उत्पन्न होने के कारण ‘ब्रह्मज’ शब्द सर्वज्ञ ब्रह्म का वाचक है और वह ज्ञः=ज्ञाता है । यहां सर्वज्ञ ब्रह्म की हिरण्यगर्भ से उत्पत्ति बताकर मिथ्यार्थ ही दिखाया है । क्योंकि परब्रह्म शाश्वत चेतन सत्ता है, उसका किसी से जन्म नहीं होता ।

अब प्रकारान्तर से यज्ञाग्नि के जानने के फल का कथन करते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद् विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् ।

स मृत्युपाशान् पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥११८

पदार्थ—(यः) जो (विद्वान्) ज्ञानवान् (त्रिणाचिकेतः) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों में आहवनीयादि रूप में तीन बार नाचिकेत-अग्नि का चयन करने वाला पुरुष है । वह (एतत्, त्रयम्) इन यज्ञाग्नि के उक्त तीन प्रकारों को (विदित्वा) जानकर अर्थात् गुरुजनों से सीखकर (एवम्) इस प्रकार (नाचिकेतम्) नाचिकेता के नाम से प्रसिद्ध यज्ञाग्नि को (चिनुते) चयन करता है अर्थात् विधिवत् अनुष्ठान करता है । (सः) वह (मृत्युपाशान्) मृत्यु=दुःख के बन्धनों को (पुरतः) शरीर-वियोग से प्रथम ही (प्रणोद्य) छिन्न-भिन्न करके (शोकातिगः) शोक-रहित होता हुआ जीवन्मुक्त दशा में (स्वर्गलोके) सुख की अवस्था में (मोदते) आनन्द-युक्त रहता है ।

अब यमाचार्य द्वितीय वर का उपसंहार करते हुए कहते हैं—

एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥१॥१९॥

भावार्थ—गीता में कहा है—“यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।” अर्थात् श्रेष्ठ-पुरुष जैसा आचरण करते हैं, सामान्य व्यक्ति उसका ही अनुकरण किया करते हैं । यमाचार्य ने जैसा कहा कि इस स्वर्ग्य-अग्नि को तेरे ही नाम से कहा करेंगे, आज तक विद्वान् पुरुष उस अग्नि को ‘नाचिकेत’ नाम से ही व्यवहार करते हैं । यमाचार्य ने इस दूसरे वरदान के देने के बाद तीसरे वरदान के लिए नचिकेता से कहा।

अब 'पिता की प्रसन्नता' तथा 'स्वर्ग्य-अग्नि' के ज्ञान के पश्चात् नचिकेता तीसरा वर मांगता है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥१॥२०॥

पदार्थ—हे यमाचार्य ! (मनुष्ये) मनुष्य के (प्रेते) मरने के बाद (अयम्) यह शरीरस्थ चेतन आत्मा (अस्ति) नित्य है (इति, एके) इस प्रकार कुछ विद्वान् मानते हैं (च) और (न, अस्ति) आत्मा की सत्ता नहीं है (इति एके) कुछ ऐसा मानते हैं, (या) जो (इयम्) यह (विचिकित्सा) संशय होता है, इस विषय में (त्वया) आपसे (अनुशिष्टः) शिक्षा पाया हुआ (अहम्) मैं नचिकेता (एतत्) इस आत्मज्ञान को (विद्याम्) जानूँ (एषः) यह मेरा (वराणाम्) वरों में (तृतीयः) तीसरा वर है ।

भावार्थ—नचिकेता पूर्वोक्त दोनों वरों को पाकर यमाचार्य से तीसरे वर के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है—हे आचार्य ! लोक में जो यह संशय है कि मरने के बाद आत्मा है और कुछ कहते हैं कि आत्मा नाम की कोई वस्तु ही नहीं है, इसमें क्या तत्त्व है ? मैं इस रहस्य को समझना चाहता हूँ । आप इस आत्मविद्या का मुझे उपदेश करें यह मेरा तीसरा वर है ।

अब यमाचार्य तीसरे वर के विषय में नचिकेता से कहते हैं—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुविज्ञेयमणुरेष धर्मः ।

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥१॥२१॥

पदार्थ—(अत्र) इस आत्मज्ञान के विषय में (पुरा) पहले (देवैः) विद्या से प्रकाशमान विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सितम्) संशय किया था, (हि) क्योंकि (एषः, धर्मः) यह आत्मा के ज्ञान का विषय (अणुः) अति सूक्ष्म है, अतः (सुविज्ञेयम्) सब को सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है अर्थात् आत्मज्ञान के लिए प्रयत्नशील सभी पुरुषों को सफलता प्राप्त ही हो, यह सन्दिग्ध है, इसलिए (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (अन्यम्) जिसके फल मिलने में सन्देह हो, इससे भिन्न (वरम्) वर को (वृणीष्व) मांगो । और (मा) मुझ को (मा, उपरोत्सीः) वरदान के लिए वचनबद्ध मुझे अधिक विवश मत करो अथवा इस वरदान के लिए दबाव मत डालो (मा) मेरे प्रति (एनम्) इस वर को (अति सृज) छोड़ दो ।

भावार्थ—यमाचार्य ने आत्मज्ञान के विषय में बताया कि यह विषय बहुत ही सूक्ष्म है, इसका जानना अतीव कठिन है । बड़े-बड़े

विद्वानों को भी इस विषय में पूर्ण ज्ञान न होने से सन्देह ही बना हुआ है । इसलिए नचिकेता की आत्मज्ञान का अधिकारी है या नहीं, परीक्षा करने के लिए यमाचार्य कहते हैं कि ऐसे कठिन, सूक्ष्म, दुर्विज्ञेय तथा सन्दिग्ध विषय को छोड़कर और कोई वर मांगो ।

नचिकेता तीसरे वर के विषय में यमाचार्य की अनिच्छा देखकर उसी के लिए पुनः आग्रह करता है—

**देवैरापि विचिकित्सितं किल त्वञ्च मृत्यो यन्न सुविज्ञेयमात्थ ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो वरस्तुल्यं एतस्य कश्चित् ॥**

१।२२॥

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (अत्र) इस आत्मज्ञान के विषय में (देवैः) बड़े-बड़े विद्वानों ने (अपि) भी (विचिकित्सितम्) संशय किया था (च) आप भी (यत्) जिस आत्मज्ञान विषय को (सुविज्ञेयम्) सुगमता से जानने योग्य (न) नहीं है, यह (आत्थ) कहते हो । इसी से मैं यह समझ गया हूँ कि यह विषय अति सूक्ष्म और कठिन है किन्तु (अस्य) इस विषय का (वक्ता) उपदेश करने वाला मुझ को (त्वादृक्) आपके समान (अन्यः) दूसरा (न, लभ्यः) नहीं मिल सकता (च) और (एतस्य) इस आत्मज्ञान के (तुल्यः) समान (अन्यः) दूसरा (कश्चित्) कोई (वरः, न) मेरा वर नहीं है ।

भावार्थ—नचिकेता ने यमाचार्य से अपने मांगे हुए आत्मज्ञान के वर को ही देने का आग्रह करते हुए कहा कि—यह सत्य है, यह आत्मज्ञान का विषय सुगम नहीं है । इसीलिए विद्वानों को भी सन्देह होता रहता है, और आप भी इसकी सफलता में सन्देह व्यक्त कर रहे हो । परन्तु नचिकेता पुनरपि अपने वर के लिए ही आग्रह इसलिए करता है कि इस विषय का योग्य विद्वान् उपदेष्टा आपसे (यमाचार्य से) दूसरा कोई नहीं है । अतः इस विषय का ज्ञान अन्यत्र दुर्लभ है । आप मुझे इसी विषय का उपदेश अवश्य दीजिए । मैं इस वर से श्रेष्ठ और किसी वर को नहीं समझता हूँ।

अब नचिकेता के पुनराग्रह करने पर यमाचार्य परीक्षा करने के लिए भौतिक सुखों का प्रलोभन देते हुए कहते हैं—

**शतायुषः पुत्र-पौत्रान् वृणीष्व बहून् पशून् हस्तिहिरण्यमश्वान् ।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि ॥१।२३**



पदार्थ—हे नचिकेता ! तुम (शतायुषः) सौ वर्ष पर्यन्त जीने वाले (पुत्र-पौत्रान्) पुत्र और पौत्रों (पोतों) को (बहून्, पशून्) बहुत से गौ आदि पशुओं को (हस्ति-हिरण्यम्) हाथियों तथा सुवर्ण को (अश्वान्) और घोड़ों को (वृणीष्व) मांगो और (भूमेः) पृथिवी के (महत्) बड़े (आयतनम्) राज्य को (वृणीष्व) मांगो (च) और (स्वयम्) तुम भी (यावत्) जितने (शरदः) वर्षों तक (इच्छसि) जीना चाहते हो, उतने वर्षों तक (जीव) जीवन प्राप्त करो ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता को भौतिक सुख अर्थात् दीर्घजीवी, पुत्र-पौत्रों, गौ आदि पशुओं, हाथी-घोड़ों, सुवर्णादि रत्नों तथा विशाल चक्रवर्ती राज्य का प्रलोभन देते हैं और यह भी कहते हैं कि तुम जितने वर्ष जीना चाहो, उतने वर्ष जीवित रहो । इस प्रकार संसार के सभी प्रकार के सुखों का नचिकेता को प्रलोभन दिया गया । यद्यपि कोई भी व्यक्ति जन्म-धारण करके न मरे, मृत्यु=शरीर से वियुक्त न होवे, यह असम्भव है । जैसा कि गीता में कहा है—

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च ॥ गीता ॥

अर्थात् जो पैदा हुआ है उसकी मृत्यु तथा जिसकी मृत्यु हुई है, उसका जन्म अपरिहार्य है । इस ईश्वरीय नियम में कभी कोई विकल्प कोई भी न तो आज तक कर सका है, न ही भविष्य में कर सकेगा । यहां यमाचार्य का कथन प्रलोभनमात्र ही समझना चाहिए कि तुम भी जितने काल तक जीना चाहो, तब तक जीवित रहो ।

नचिकेता को यमाचार्य प्रकारान्तर से और प्रलोभन देते हैं—

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च ।

महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानान्त्वा कामभाजं करोमि ॥१॥२४॥

पदार्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (यदि) जो (एतत्, तुल्यम्) इस आत्मज्ञान के समान (वरम्) आगे कही जाने वाली वस्तुओं को वररूप में (मन्यसे) समझते हो तो (वित्तम्) भोग के साधन सुवर्णादि ऐश्वर्य को (च) और (चिरजीविकाम्) दीर्घ-जीवन को (वृणीष्व) मांगो । (त्वम्) तुम (महाभूमौ) भूमि पर विशाल साम्राज्य में (एधि) उपर्युक्त भौतिक सुखों को प्राप्त करते रहो, मैं (त्वा) तुझ को (कामानाम्) अभीष्ट कामनाओं का (कामभाजम्) भोग वाला (करोमि) करता हूं ।

यमाचार्य शिष्य की परीक्षा करने के लिए प्रत्यक्ष इन्द्रियों के सुखों का प्रलोभन देते हुए कहते हैं—

इमा रामाः सरथाः सतूर्या नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः ।

आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो ! मरणं मानुप्राक्षीः ॥१॥२५

पदार्थ—(मर्त्यलोके) इस पृथिवी पर (ये ये) जो-जो (कामाः) कामनाएं (दुर्लभाः) दुर्लभ हैं, उन (सर्वान्) सब (कामान्) कामनाओं को (छन्दतः) स्वेच्छा से (प्रार्थयस्व) मांगो । (इमाः) ये जो (सरथाः) रमण के साधन सम्पन्न रथों पर बैठी हुई (सतूर्याः) श्रुतिमधुर बाजों के सहित (इमाः) मनुष्यों को प्रसन्न करने वाली रूपवती स्त्रियां हैं, उनको देता हूं (हि) क्योंकि (ईदृशाः) ऐसी सौन्दर्ययुक्त तथा रूप सम्पन्न स्त्रियां (मनुष्यैः) सामान्य मनुष्यों को (न, लम्बनीयाः) प्राप्त नहीं हो सकतीं । (मत्प्रताभिः) मुझ से दी गई (आभिः) इन तन, मन, धन से सेवा करने वाली युवतियों से (परिचारयस्व) अपनी सेवा कराओ और (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (मरणम्) मृत्यु अर्थात् मरने के बाद आत्मा के विषय में (मा, अनुप्राक्षीः) मत पूछो ।

भावार्थ—संसार में दो ही बड़े प्रलोभन होते हैं—१. काञ्चन, २. कामिनी । जिनके आकर्षण से कोई विरले ही बच पाते हैं । यमाचार्य ने भी नचिकेता के सामने दोनों ही प्रलोभन दिए हैं, क्योंकि जो इनमें आसक्ति रखता है, उसे आत्मज्ञान कदापि सम्भव नहीं है । भगवान् मनु ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है कि—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ॥

अर्थात् जो अर्थ तथा काम में आसक्त नहीं हैं, उन्हें ही धर्मज्ञान होता है । इसलिए आत्मज्ञान के देने से पूर्व नचिकेता की परीक्षा ली

गई। क्योंकि अनधिकारी को विद्या अर्थात् आत्मज्ञान के उपदेश का कोई लाभ नहीं है ।

इस श्लोक में 'सरथाः' पद में रथ शब्द का रथयान के अतिरिक्त एक अर्थ यह भी है—रमण=भोग करने का ज्ञान । यमाचार्य ने यह कहा कि मैं तुझे इन पदार्थों के भोग की विधि भी बता सकता हूँ। महर्षि दयानन्द 'रथ' पद का अर्थ करते हुए लिखते हैं—

“रथ-शब्देन रमणानन्दकरं ज्ञानं तेजो गृह्यते ।”

(ऋ० भू० धारणाकर्षण-विषयः)

अर्थात् रमण=आनन्द करने वाला ज्ञान व तेज अर्थ रथ शब्द से गृहीत होता है ।

यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! तुम इस लोक की दुर्लभ से दुर्लभ कामनाओं को मांगो । रमण कराने वाली मनुष्यों को दुर्लभ रूपवती स्त्रियों को प्राप्त करो । उनसे अपनी खूब सेवा करवाओ और गाने बजाने वाली संगीतज्ञ स्त्रियों की मांग करो, जो तुम्हारा मनोरञ्जन कराती रहें, किन्तु मृत्यु के पश्चात् आत्मसत्ता के विषय में प्रश्न न करो । ऐसे कठिन तथा नीरस विषय को पूछकर भी क्या करोगे ?

अब यमाचार्य के प्रलोभनों को सुनकर नचिकेता बहुत ही गम्भीरता तथा कुशलता से युक्ति-सहित उत्तर देता है—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः ।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥१॥२६॥

पदार्थ—(अन्तक) हे यमाचार्य ! (यत्) जो तुमने सांसारिक भोगों के देने को कहा है वे सब (श्वोभावाः) कल रहेंगे वा नहीं अर्थात् उत्पत्ति-विनाशवाले होने से अनित्य हैं और (एतत्) ये भोग (मर्त्यस्य) मनुष्य की (सर्वेन्द्रियाणाम्) सब चक्षुरादि इन्द्रियों के (तेजः) प्रताप या बल को (जरयन्ति) नष्ट कर देते हैं । और जो आप ने यथेष्ट आयु देने को कहा है, यह (सर्वम्, अपि) सभी (जीवनम्) जीवन (अल्पम्, एव) अल्प ही है अर्थात् आत्मज्ञान से होने वाली मुक्ति की अपेक्षा सौ दो सौ वर्षों का जीवन तुच्छ ही है । और जो आपने सुन्दर रथादि सहित स्त्रियों को देने को कहा है, वे (वाहाः) रथादि वाहनों सहित स्त्रियाँ, (तव, एव) आपकी ही रहें और (नृत्यगीते) नाचना, गाना व बजाना भी (तवैव) आपका ही रहे, मैं ये सब नहीं चाहता ।

अब नचिकेता भौतिक-भोगसाधनों के तुच्छ होने में और हेतु कथन करता है—

जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥१२७॥

पदार्थ—(मनुष्यः) मनुष्य (वित्तन) धनादि ऐश्वर्यों के भोग से (न, तर्पणीयः) तृप्त नहीं हो सकता (चेत्) यदि (त्वा) आपको (अद्राक्ष्म) दर्शन=जान सके तो (वित्तम्) भोगों को (लप्स्यामहे) प्राप्त कर ही लेंगे (यावत्) जब तक (त्वम्) आप (ईशिष्यसि) मेरे अधिष्ठाता=ऊपर वरदहस्त रखे रहोगे अथवा धनादि ऐश्वर्य देने से मेरे ईश्वर=स्वामी, बने रहोगे तब तक (जीविष्यामः) जीवन प्राप्त करते रहेंगे, अतः (मे) मुझे (वरः, तु) वर तो (सः, एव) वही (वरणीयः) मांगने योग्य है ।

भावार्थ—नचिकेता अपने आत्मज्ञान के वर के लिए ही आग्रह करते हुए कहता है कि मुझे तो वही वर चाहिए । क्योंकि मनुष्य की संसार के भोगों से तथा ऐश्वर्यों से कभी तृप्ति नहीं हो सकती । जितना इन भोगों की तरफ मनुष्य भागता है, ये भोग उतना ही अधिक दुःखी करते हैं । मनु जी ने इसलिए कहा है—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ (मनु०)

अर्थात् कामनाओं के भोग करने से कामनाओं की शान्ति नहीं होती, प्रत्युत अग्नि में आहुति डालने के समान कामों की वृद्धि ही होती है। इस लिए महाराज भर्तृहरि कहते हैं—“भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः” भोगों

को भोगते भोगते भोग कदापि समाप्त नहीं होते, हम ही समाप्त हो जाते हैं। इस श्लोक में 'वित्तम्' पद केवल धन के लिए ही नहीं है, किन्तु "वित्तो भोगप्रत्ययोः" (अ०) इस व्याकरण नियम से वित्त शब्द भोगार्थक ही जानना चाहिए। प्रस्तुत प्रसंग में भी नचिकेता का यही भाव है।

इस श्लोक से यह भी स्पष्ट हो रहा है कि यह यम-नचिकेता का संवाद एक आलङ्कारिक वर्णन ही है। इस के द्वारा जीवों को यह शिक्षा दी गई है कि वह परमात्मा ही सब का अन्तक=विनाश करने वाला है। उसके दर्शन व ज्ञान से सांसारिक ऐश्वर्यों की न्यूनता भी नहीं रहती और जब तक उसकी कृपा बनी रहेगी, तभी तक हमारा जीवन सुरक्षित रहेगा यद्यपि परमात्मा कर्मों के अनुसार ही फल देता है, परन्तु जो जीव परमात्मा पिता के आदेशों का पालन करते हैं, उन पर ही उसकी कृपा होती है, अन्यो पर नहीं। जैसा कि इसी उपनिषद् में अन्यत्र कहा है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः...यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

कठो० २।२३॥

अर्थात् आत्मज्ञान प्रवचन से ही नहीं होता जब परमात्मा का अनुग्रह होता है, तब उसका ज्ञान होता है।

अब नचिकेता लौकिक सुखों के प्रति अपनी अनिच्छा का कारण बताते हुए कहते हैं—

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन्।

अभिध्यायन् वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥१।२८॥

पदार्थ—(अजीर्यताम्) जीर्ण होने वाली वृद्धावस्था से रहित (अमृतानाम्) आप सदृश मुक्त-पुरुषों की सङ्गति (उपेत्य) प्राप्त करके और (वर्ण-रतिप्रमोदान्) सुन्दर गौरवर्ण वाली स्त्रियों के साथ रति-क्रीडाओं के विषय सुखों के दुःख परिणाम को (अभिध्यायन्) अच्छी प्रकार ध्यान=जानता हुआ (कु-अधस्थः) मुक्ति-सुख की अपेक्षा कु=पृथिवी के सुखों की तुच्छता को जानने वाला, और (जीर्यन्) भोगों से शरीर व इन्द्रियों की शक्ति से हास को अनुभव करता हुआ (कः) कौन (प्रजानन्) सत्यासत्य का विवेक करने वाला (मर्त्यः) विचारशील मनुष्य है, जो (अतिदीर्घे) बहुत समय तक रहने वाले (जीविते) मनुष्य जीवन में (रमेत) भोगों में रमण करने की इच्छा करे अर्थात् कोई नहीं।

भावार्थ—लौकिक समस्त सुख मोक्ष-सुख की अपेक्षा बहुत हीन तथा क्षणिक होते हैं । जो इन विषयों के सुखों के परिणाम को नहीं जानता वह तो इनमें आसक्त हो सकता है, किन्तु सत्-असत् का सम्यक् विचार करने वाला इन सुखों की कैसे इच्छा करेगा ? और जिसे ईश्वर की कृपा से लेशमात्र भी परमात्मा की उपासना से ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति होने लगती है, तब ये सुख-दुःखबाहुल्य ही दिखाई देते हैं । नचिकेता भी इसी दशा में पहुँच चुका था और सदा मुक्त यमाचार्य की सङ्गति मिल चुकी थी, फिर वह कैसे इन प्रलोभनों में फँस सकता था । नचिकेता ने एक प्रकार से परोक्षरूप में अपनी योग्यता ही यमाचार्य से बताई है ।

अब नचिकेता लौकिक-सुखों की तुच्छता बताकर अपने मुख्य-वर के लिए पुनः आग्रह करता है—

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत् साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत् ।

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यन्तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥१॥२९

पदार्थ—(मृत्यो) हे यमाचार्य ! (यस्मिन्) जिस आत्मज्ञान के विषय में (इदम्) यह अर्थात् मरने के बाद आत्मा की सत्ता है या नहीं इत्यादि (विचिकित्सन्ति) देव व मनुष्य सभी संशय करते हैं (यत्) जो आत्मज्ञान (महति) बड़ी (साम्पराये) परमार्थ-दशा में है (तत्) उस ज्ञान को (नः) हमारे लिए (ब्रूहि) उपदेश कीजिए । (यः) जो (अयम्) यह आत्मज्ञान-विषयक वर है, यह (वरः) वर (गूढम्) छिपी हुई अर्थात् अस्पष्ट होने से अकथनीय दशा को (अनुप्रविष्टः) प्राप्त हो रहा है, इसलिए (नचिकेता) नचिकेता (तस्मात्) उससे (अन्यम्) भिन्न वर को (न, वृणीते) नहीं मांगता ।

भावार्थ—नचिकेता का आत्मा-विषयक वर ही मुख्य वर था । जैसे जैसे यमाचार्य ने नचिकेता की परीक्षा करने के लिए लौकिक प्रलोभन दिए, वैसे-वैसे ही नचिकेता की जिज्ञासा अधिक बढ़ने लगी । इसलिए आत्मा के विषय में अद्वितीय ज्ञाता तथा वक्ता यमाचार्य से वह अपने उसी आत्मज्ञान के वर के लिए पुनः आग्रह करता हुआ कहता है कि मुझे उससे भिन्न दूसरा कोई भी वर नहीं चाहिए ।

इति कठोपनिषदि प्रथम-वल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥

समाप्तेयञ्च प्रथमावल्ली ॥

अथ कठोपनिषदि द्वितीया वल्ली

भौतिक सुखों के नाना प्रलोभनों से उत्तीर्ण नचिकेता को आत्मज्ञान का योग्य अधिकारी समझकर यमाचार्य विद्या और अविद्या के भेद का कथन करते हैं—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषः सिनीतः ।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद् य उ प्रेयो वृणीते ॥

॥२॥१॥

पदार्थ—हे नचिकेता ! (श्रेयः) अतिशय प्रशंसित कल्याण का मार्ग अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति का साधनरूप कर्म (अन्यत्) लौकिक अभ्युदय की अपेक्षा विलक्षण और दूसरा है । (उत) और (प्रेयः) अतिशय प्रिय लगने वाला लौकिक स्त्रीधनैश्वर्यादि अभ्युदय का मार्ग (अन्यत्, एव) मोक्ष-मार्ग से भिन्न ही है। (ते) वे श्रेय और प्रेय (उभे) दोनों (नानार्थे) भिन्न-भिन्न प्रयोजन वाले (पुरुषम्) मनुष्य को (सिनीतः) कर्म-फल रूप रस्सियों से बांधते हैं । (तयोः) उन दोनों में से (श्रेयः) कल्याणकारी मोक्ष-मार्ग को (आददानस्य) ग्रहण करने वाले का (साधु) अच्छा फल (भवति) होता है (उ) और (यः) जो (प्रेयः) अत्यन्त प्रिय वस्तुओं को (वृणीते) स्वीकार करता है, वह (अर्थात्) मनुष्य-जीवन के परमलक्ष्य मोक्षरूप प्रयोजन से (हीयते) भ्रष्ट हो जाता है ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता को आत्मज्ञान का योग्य अधिकारी समझकर उपदेश देने लगे कि हे नचिकेता ! मनुष्य-जीवन के लिए संसार में दो ही मार्ग हैं—एक श्रेय और दूसरा प्रेय । इन्हीं को ही दूसरे शब्दों में निवृत्तिमार्ग तथा प्रवृत्ति मार्ग कहते हैं । इन में से श्रेय-मार्ग कल्याण का मार्ग है और प्रेय-मार्ग मानव को मोक्षरूप फल से विमुख करता है। अतः श्रेय-मार्ग को अपनाने से यथार्थ सुख की प्राप्ति होती है ।

उपर्युक्त दोनों श्रेय-प्रेय मार्गों में से धीर मनुष्य किस मार्ग को अपनाता है ?

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ।
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते ॥

॥२॥२॥

यथार्थ में संसार के सुखों को सुख समझना भी अविद्या है ।
योगदर्शन में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है—

परिणाम-ताप-संस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं
विवेकिनः ॥ योग० २।१५॥

इस सूत्र की व्याख्या में महर्षि व्यास लिखते हैं कि—“या भोगेष्विन्द्रियाणां तृप्तेरुपशान्तिः तत्सुखम् । या लौल्यादनुपशान्तिस्तद् दुःखम् । न चेन्द्रियाणां भोगाभ्यासेन वैतृष्ण्यं कर्तुं शक्यम् । कस्मात् ? यतो भोगाभ्यासमनुविवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणामिति, तस्मादनुपायः सुखस्य भोगाभ्यास इति ।” (व्यासभाष्यम्)

अर्थात् विवेकी पुरुष के लिए सांसारिक-सुख सुख नहीं हैं । प्रत्युत दुःख ही हैं क्योंकि उनका परिणाम सुखमय नहीं है । जिसे हम सांसारिक सुख कहते हैं, वह भोगों से इन्द्रियों की तृप्ति का नाम है, और इन्द्रियों की चञ्चलता से अशान्त-दशा ही दुःख है । भोग करने से इन्द्रियों को तृष्णारहित कभी नहीं किया जा सकता, क्योंकि जैसे-जैसे विषयों के भोग बढ़ाए जाएंगे, वैसे-वैसे उनमें राग बढ़ेगा और इन्द्रियों की विषयों के प्रति कुशलता बढ़ेगी । इसलिए लौकिक भोग करना सुख का उपाय कदापि नहीं हो सकता ।

प्रेय-मार्ग के प्रलोभनों में न फंसने के कारण यमाचार्य नचिकेता की प्रशंसा करते हैं—

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः ।
नैतांश्च सृङ्गां वित्तमयीमवाप्तो यस्याम्मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥

॥२।३॥

पदार्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! (सः) वह, जिसे अनेकविध प्रलोभन दिए गए हैं (त्वम्) तुमने (प्रियान्) प्रिय पुत्र-पौत्रादि (च) और (प्रियरूपान्) अतिशय-सुन्दर स्त्री आदि (कामान्) अनित्य तथा परिणाम में दुःखरूप काम-भोगों को (अभिध्यायन्) सब प्रकार से विचार करके (अत्यस्त्राक्षीः) छोड़ दिया है और (एताम्) इस प्रबलतम आकर्षक भोगैश्वर्यरूप (सृङ्गाम्) लोहमयी शृङ्खला को (न, अवाप्तः) नहीं प्राप्त हुए अर्थात् भोग-बन्धनों से छूट गए (यस्याम्) जिस भोग-शृङ्खला में (बहवः) बहुत, प्रायः (मनुष्याः) मनुष्य (मज्जन्ति) फंस जाते हैं या कल्याण-मार्ग को भूलकर भोगों में ही डूब जाते हैं ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता को धीर=विवेकी मानकर उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि हे नचिकेता ! तुमने ऐसे प्रवृत्ति-मार्ग का

परित्याग कर दिया है, जिसकी मायामोहमयी, वित्तमोहमयी तथा सुन्दर कामिनियों की चमकीली आकर्षक लहरों में प्रायः मनुष्य डूब जाते हैं । इसलिए इन प्रिय तथा प्रियतम प्रलोभनों के त्याग से मैं तुम्हें आत्मज्ञान का योग्य अधिकारी समझता हूँ ।

यमाचार्य नचिकेता की विवेक-बुद्धि की प्रकारान्तर से प्रशंसा करते हैं—

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या^१ या च विद्येति ज्ञाता ।
विद्याऽभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवो लोलुपन्त ॥

॥२।४॥

पदार्थ—(एते) श्रेय और प्रेय ये दोनों मार्ग (दूरम्, विपरीते) एक दूसरे से भिन्न होने से दूर तथा रात-दिन के समान परस्पर विरुद्ध हैं । (विषूची) परस्पर विरोधी प्रयोजनों के सूचक हैं, इन दोनों को विद्वानों ने (अविद्या) प्रेय को विपरीतज्ञान होने से अविद्या (च) और विद्या श्रेय को यथार्थज्ञान होने से विद्या (इति) इस प्रकार (ज्ञाता) जाना है । मैं (नचिकेतसम्) हे नचिकेता ! तुम को (विद्याभीप्सिनम्) यथार्थ-ज्ञानरूप श्रेय-मार्ग को अपनाने से विद्या को चाहने वाला (मन्ये) मानता हूँ अर्थात् आत्मज्ञान के लिए योग्य अधिकारी समझता हूँ, क्योंकि (त्वा) तुम को (बहवः) बहुत से (कामाः) प्रलोभन वाले विषयों के भोग (न, लोलुपन्त) विषयों के प्रति लोभित (लुभायमान) नहीं कर सके अर्थात् तुम्हें संसार के विषय नहीं बांध सके हैं ।

भावार्थ—विद्या और अविद्या में क्या अन्तर है ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए यहां कहा गया है कि ये दोनों प्रकाश तथा अन्धकार के तुल्य परस्पर विरोधी और भिन्न-भिन्न फल वाले हैं । प्रेय-मार्ग अर्थात् संसार के समस्त सुख इसलिए सुख नहीं हैं कि इनका

१. अविद्या मिथ्याज्ञान का ही नाम है, नवीन वेदान्तियों की मानी हुई 'माया' कदापि नहीं है । इसमें निम्न प्रमाण हैं—

(क) तस्य हेतुरविद्या । (योग० २।२४)

अर्थात् अविद्या विपरीत ज्ञान को कहते हैं और वह वासना-संयोग का कारण है ।

(ख) इन्द्रियदोषात् संस्कारदोषाच्चाविद्या ॥ (वैशे० १।२।१०)

अर्थात् इन्द्रियदोष तथा संस्कारदोष से अविद्या=मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति होती है ।

परिणाम दुःख ही होता है । इसलिए इन दुःखमय भोगों में सुख मानना अविद्या ही है । इस रहस्य को विद्वान् ही समझ सकते हैं । योगदर्शन में इस विषय को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि—

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥

(योग० २।५)

विद्या क्या है ? और अविद्या क्या है ? इसका इसमें विवेचन किया गया है । महर्षि-दयानन्द ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

“जो अनित्य संसार और देहादि में नित्य अर्थात् जो कार्यजगत् देखा सुना जाता है, सदा रहेगा, सदा से है और योगबल से यही देवों का शरीर सदा रहता है, वैसी विपरीत बुद्धि होना अविद्या का प्रथम भाग है। अर्थात् मलमय स्त्र्यादि के और मिथ्याभाषण, चोरी आदि अपवित्र में पवित्रबुद्धि दूसरा, अत्यन्त विषयसेवनरूप दुःख में सुखबुद्धि आदि तीसरा, अनात्मा में आत्मबुद्धि करना अविद्या का चौथा भाग है । यह चार प्रकार का विपरीत ज्ञान अविद्या कहाती है ।

इससे विपरीत अर्थात् अनित्य में अनित्य और नित्य में नित्य, अपवित्र में अपवित्र और पवित्र में पवित्र, दुःख में दुःख, सुख में सुख अनात्मा में अनात्मा और आत्मा में आत्मा का ज्ञान होना विद्या है । अर्थात् ‘वेत्ति यथावत् तत्त्वं पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या, यया तत्त्वस्वरूपं न जानाति, भ्रमादन्यस्मिन्नन्यन्निश्चिनोति साऽविद्या” जिससे पदार्थों का यथार्थस्वरूप बोध होवे वह विद्या और जिससे तत्त्वस्वरूप न जान पड़े, अन्य में अन्य बुद्धि होवे वह अविद्या कहाती है ।” (सत्यार्थ० ९ समु०)

नवीन वेदान्ती अविद्या को माया का पर्यायवाची मानकर जगत् को मिथ्या मानते हैं । यह उनका अज्ञान ही है, क्योंकि यह समस्त कार्यजगत् मिथ्या नहीं है, यह प्रकृति का विकार है और प्रकृति में ही लीन हो जाता है । और प्रकृति नित्य एक सत्ता है । योगदर्शन के प्रमाण के अनुसार अविद्या का लक्षण अवश्य पढ़कर नवीन वेदान्तियों की कल्पित अविद्या से बचना चाहिए ।

अब प्रेममार्ग के पथिक अविद्या में रत पुरुषों की क्या दशा होती है, इसका वर्णन करते हैं—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।

दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥

इनमें मूढावस्था वह होती है, जिसमें कर्तव्याऽकर्तव्य का विवेक ही न हो सके ।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन^१ मूढम् ।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥

॥२।६॥

पदार्थ—(वित्तमोहेन) “संसार के भोग के साधन स्त्री, धनैश्वर्यादि पदार्थ शरीर से वियोग होते समय यहीं रह जायेंगे अथवा जीवन-काल में चोर-डाकू छीन ले जायेंगे अथवा राजा कर के रूप में ले लेगा तो मैं क्या करूँगा ।” इत्यादि वित्त=भोग के समस्त साधनों के मोह से (मूढम्) मोहजाल में फंसे हुए (प्रमाद्यन्तम्) कल्याण-मार्ग से प्रमाद करने वाले (बालम्^२) अज्ञानी पुरुष को (साम्परायः) परलोक का साधन परमार्थविचार (न, प्रतिभाति) अच्छा नहीं लगता है और (अयम्, लोकः) यह प्रत्यक्ष देखने वाला भौतिक सुख ही है, इससे (परः) दूसरा अर्थात् मरणोत्तर का लोक=सुख (न, अस्ति) नहीं है (इति) इस प्रकार (मानी) मिथ्याभिमान करनेवाला पुरुष (पुनः पुनः) बार-बार जन्म-मरण के चक्र में आकर (मे) मुझ यम=न्यायाधीश की (वशम्) कर्मानुसार फलव्यवस्था को (आपद्यते) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—“विद्ययाऽमृतमश्नुते” इस वेद के वचनानुसार विद्या=यथार्थज्ञान से मृत्यु-दुःख-बन्धन से छूटकर मोक्ष को प्राप्त कर लेता है, किन्तु जो अविद्या-ग्रस्त होने से बालक है, अविवेकी है, विषय-भोगों को ही सब कुछ समझता है और मरण के पश्चात् पाप-पुण्य के फलों पर भी कोई विश्वास नहीं करता, ऐसा नास्तिक पुरुष परमात्मा की न्याय-व्यवस्था के वशीभूत होकर विभिन्न योनियों में आवागमन करता रहता है ।

महर्षि-दयानन्द ने ऋ० भा० भू० में यम-नचिकेता के आख्यान को परमात्मा तथा जीवात्मा का संवाद माना है । प्रस्तुत मन्त्र से भी यही स्पष्ट हो रहा है । यम=नियन्ता परमेश्वर की व्यवस्था से ही जीव सुख व दुःख को प्राप्त करते हैं ।

१. यद्यपि राग, द्वेष तथा मोह ये तीन श्रेयमार्ग में प्रबल बाधक हैं। पुनरपि मोह सब से अधिक बाधक है । न्यायदर्शन में कहा है—“तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोपपत्तेः।” (न्या० ४।१।६) इस सूत्र के भाष्यकार ने मोह के चार रूप माने हैं—“मिथ्याज्ञानं, विचिकित्सा, मानः, प्रमादः ।”

२. अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः ।” (मनु०) मनु जी ने भी अज्ञानी को बालक कहा है ।

अब यमाचार्य अविद्याग्रस्त की निन्दा करके, विद्वान् मुमुक्षु जनों की प्रशंसा करते हुए नचिकेता के वरणीय वर को ध्यान में रखकर कहते हैं—

**श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यन्न विद्युः ।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥**

॥२॥७॥

पदार्थ—(यः) जो आत्मा का ज्ञान (बहुभिः) बहुत से मनुष्यों को (श्रवणाया) सुनने को (अपि) भी (न, लभ्यः) प्राप्त नहीं होता अर्थात् सांसारिक कार्यों में व्यस्त रहने अथवा योग्य अधिकारी न होने के कारण सुन भी नहीं पाते और (बहवः) बहुत से मनुष्य (शृण्वन्तः) सुनते हुए (अपि) भी (यम्) जिस आत्मा के ज्ञान को (न, विद्युः) नहीं समझ सकते । क्योंकि (अस्य) इस आत्मज्ञान का (वक्ता) व्याख्यान करने वाला (आश्चर्यः) असंख्यों में कोई विरला ही अद्भुतस्वरूप होता है और (अस्य) इस आत्मज्ञान का (लब्धा) प्राप्त करने वाला (कुशलः) कोई विरला ही विवेकी कुशाग्रबुद्धि होता है और (कुशलानुशिष्टः) विवेकी ब्रह्मज्ञानी आचार्य से उपदेश पाया हुआ (ज्ञाता) ज्ञानी (आश्चर्यः) कोई विरला ही अद्भुतरूप में होता है, सब नहीं ।

महर्षि-दयानन्द ने कठोपनिषद् के इस श्लोक की दो स्थानों पर व्याख्या की है—

१. “(श्रवणाया०) जिस परमेश्वर को सुनने को बहुत मनुष्य प्रवृत्त होते हैं, परन्तु उनमें से जो विद्वान् सत्याचरण करने वाले हैं, वे ही परमेश्वर को सुन के प्राप्त होते हैं और जो इस प्रकार के नहीं हैं, वे परमेश्वर को सुन के भी प्राप्त नहीं होते । क्योंकि इस परमेश्वर का यथार्थ उपदेश करने वाले का मिलना कठिन है तथा ब्रह्म जानने से परमेश्वर को सुनके जानने वाला भी कठिन है । सो जो कुशल अत्यन्त चतुर है, वही इस ब्रह्म को प्राप्त होता है । क्योंकि इसका जानने वाला अत्यन्त अद्भुत है और इस कुशल पुरुष के उपदेश से भी जो इस ब्रह्म को यथावत् जानता है, वह भी इस जगत् में आश्चर्यरूप ही है । इस कारण से परमेश्वर को ‘चित्रश्रवस्तम’ इस मन्त्र (ऋ० १।१।५) में विशेषण दिया है ।”

(ऋग्वेद-भाष्य के नमूने का अंक, लघु० पृ० १४६)

२. 'पञ्चमहायज्ञविधि' पुस्तक में "चित्रं देवानामुदगात्०" मन्त्र की व्याख्या में (चित्रम्=अद्भुतस्वरूपम्) 'चित्रम्' का अर्थ स्पष्ट करते हुए प्रमाण रूप में इस श्लोक का पूर्वाद्ध ही उद्धृत किया है और उसकी व्याख्या में लिखा है—

(क) "आश्चर्यस्वरूपत्वाद् ब्रह्मणः ।"

अर्थात् ब्रह्म आश्चर्यस्वरूप है । (लघु० २२६ पृ०)

(ख) "आश्चर्यश्रवणत्वं परमेश्वर एव घटते नान्यत्रेति ।"

(लघु० १४६ पृ०)

अर्थात् आश्चर्य श्रवणत्वं परमेश्वर में ही घटता है, अन्यत्र नहीं । महर्षि ने यह वाक्य (श्रवणाया०) की व्याख्या में संस्कृत में ही लिखा है।

भावार्थ—आत्मज्ञान का विषय बहुत ही सूक्ष्म तथा गहन है । प्रथम तो लौकिक मनुष्य आत्मज्ञान के योग्य अधिकारी ही नहीं बनना चाहते, क्योंकि इसके लिए शम-दमादि साधन से तपःसाध्य संयम करना पड़ता है । अतः आत्मज्ञान लौकिक सुखों में आसक्त होने वाले को कदापि सम्भव नहीं है और जो योग्य अधिकारी भी बन जाते हैं, उन्हें आत्मज्ञान के वेत्ता तथा अनुभवी गुरु का मिलना दुर्लभ होता है जो उसे आत्मज्ञान का उपदेश दे सके । और बहुत से आत्मज्ञान को सुनते हुए नहीं समझ पाते । इसका कारण स्पष्ट है कि योग्य अधिकारी तथा योग्य गुरु मिलने पर भी यह ज्ञान शाब्दिक रूप से ही नहीं हो सकता । एतदर्थ श्रवण, मनन तथा निदिध्यासनादि के द्वारा निरन्तर अभ्यास करने की भी परमावश्यकता है । इसलिए यहां आत्मज्ञान के श्रोता तथा वक्ता को आश्चर्यरूप-अद्भुत^१ बताया गया है ।

अब आत्मज्ञान का उपदेश सामान्य मनुष्य का विषय नहीं है, इसके लिए कोई साक्षात् अनुभवी ही गुरु होना चाहिए, यह कथन करते हैं—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः ।

अनन्यप्रोक्ते न गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥२॥८॥

१. 'अद्भुत का निर्वचन करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं—“इदमपीतरद् अद्भुतम्=अभूतमिव” (निरु० १।६) आश्चर्य अर्थ में जो 'अद्भुत' शब्द का प्रयोग है वह भी अभूतम् इव=अनहुआ जैसा होता है ।



पदार्थ—(अवरेण) परमार्थी से भिन्न सामान्य (नरेण) मनुष्य से (प्रोक्तः) उपदेश किया हुआ (एषः) आत्मज्ञान (बहुधा) बार-बार (चिन्त्यमानः) चिन्तन किया हुआ भी (न, सुविज्ञेयः) सरलता से नहीं जाना जा सकता (अनन्यप्रोक्ते^१) सामान्य मनुष्य से उपदिष्ट (अत्र) इस आत्मज्ञान में (गतिः) आत्मजिज्ञासु की प्रवृत्ति (नास्ति) नहीं होती (हि) क्योंकि वह आत्मतत्त्व (अणु-प्रमाणात्) सूक्ष्म-प्रमाण से भी (अणीयान्) अत्यन्तसूक्ष्म है, अतः (अतर्क्यम्^२) यह तर्क का विषय नहीं है ।

भावार्थ—जिस पुरुष ने आत्म-तत्त्व का साक्षात् अनुभव नहीं किया है, वह जिज्ञासु की आशंकाओं का उचित समाधान कदापि नहीं कर सकता । इसलिए ऐसे पुरुष से आत्मज्ञान का उपदेश हृदयङ्गम भी नहीं हो पाता क्योंकि आत्मज्ञान का विषय आकाशादि सूक्ष्म पदार्थों से भी अतिशय सूक्ष्म है । जो विद्वान् व्यक्ति है, किन्तु आत्मानुभव से शून्य है, वह तर्क से उसके प्रश्नों का उत्तर तो दे सकता है, किन्तु अनुभव नहीं करा सकता । और विना अनुभव के आत्मज्ञान में कोई गति नहीं हो सकती। इसलिए इस ज्ञान को तर्क का विषय नहीं बनाना चाहिए ।

महर्षि दयानन्द के जीवन की घटनाएं इस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि उन्होंने भौतिकवाद की छत्रछाया में शिक्षित नास्तिक श्री पं० गुरुदत्त विद्यार्थी तथा महात्मा मुन्शीराम जी के परमात्मा-विषयक समस्त प्रश्नों का उत्तर तो दे दिया और उनकी एक भी शङ्का शेष नहीं रहने दी। किन्तु फिर भी वे यही कहते रहे—‘स्वामिन् ! आपने हमें निरुत्तर तो कर दिया, किन्तु अभी भी हमें-परमात्मा के प्रति विश्वास नहीं होता । तब स्वामी जी ने उन्हें यही उत्तर दिया था—“नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः” यह आत्मज्ञान उपदेश से ही नहीं प्राप्त होता । क्योंकि यह तर्क का विषय न होकर अनुभव का विषय है ।’

१. यहां ‘न अन्यः=अनन्यः’ ऐसा अर्थ करके पूर्वपक्ष में कथित ‘अवर’ शब्द का ही संकेत किया है । अर्थात् जो अन्य नहीं, उसका नाम ‘अनन्य’ हुआ । किससे अन्य नहीं ? इसका उत्तर स्पष्ट है, जिसका पूर्ववाक्य में कथन किया गया है ।

२. ‘अतर्क्यम्’ यहां लिङ्गव्यत्यय समझकर आत्मा के साथ लगाना चाहिए ।

आत्मज्ञान तर्क का विषय नहीं है, यह कथन करते हैं—

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ।

यान्त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रेष्ठा ॥२।९॥

पदार्थ—(प्रेष्ठ) हे अतिशय प्रिय नचिकेता ! (एषा) यह (मतिः^१) आत्मज्ञान-विषयक बुद्धि (तर्केण) तर्क से (न, आ+अपनेया) त्याग करने योग्य नहीं है अर्थात् तर्क-वितर्क करने से आत्म-तत्त्व अनुभव में नहीं आता, इसलिए इसे नहीं छोड़ना चाहिए, किन्तु (अन्येन, एव) नास्तिक से भिन्न आस्तिक से ही (प्रोक्ता) उपदिष्ट मति=आत्मज्ञान (सुज्ञानाय) अच्छी प्रकार ज्ञान के लिए होता है । (सत्यधृतिः) हे नचिकेता ! तुम सत्य में धैर्य रखनेवाले हो (त्वम्) तुमने (याम्) जिस मति=विवेकशील बुद्धि को (आपः, असि) प्राप्त किया है, (बत^२) अनुकम्पित यमाचार्य कहते हैं—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! हमारी यह हार्दिक इच्छा है कि (नः) हमारे से (प्रेष्ठा) आत्मज्ञान को पूछनेवाला (त्वादृङ्) तेरे समान योग्य शिष्य (भूयात्) होवे ।

भावार्थ—सुपरीक्षित नचिकेता की विवेक-सम्पन्न बुद्धि की प्रशंसा करते हुए यमाचार्य कहते हैं—हे नचिकेता ! तुम मुझे अतिशय प्रिय लग रहे हो, तुम ने सत्यधृति होकर जिस अद्भुत बुद्धि को प्राप्त कर लिया है, इसे तर्क से प्राप्त नहीं किया जा सकता । यह तो किसी अनुभवी आचार्य के उपदेश से ही प्राप्त होती है । मैं तेरे जैसे जिज्ञासु-शिष्यों के लिए आत्मज्ञान देने के लिए सदा तैयार हूँ ।

और इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म आत्मज्ञान के विषय में तर्क की अनुपयोगिता इसलिए है कि तर्क का स्थान अनात्मवादी नास्तिक की शङ्काओं का निवारण करने के लिए तो ठीक है, जैसे खेत की पशु आदि से रक्षा करने के लिए कांटों की बाढ़ लगा देते हैं, वैसे ही तर्क है । न्यायदर्शन में तर्क के विषय में वात्स्यायन मुनि कहते हैं—“तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते ।” (न्या० १।१।१ वात्स्या०) अर्थात् तर्क न तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों में ही है

१. ‘मतिः’ पदे मन् धातोः स्त्रियां भावे करणकारके चापि क्तिन् प्रत्ययः । ततश्च ‘ज्ञानम्’ ‘बुद्धिश्च’ द्वावप्यर्थौ यथाप्रसङ्गं सङ्गमनीयौ ।

२. ‘बत’ इति खेदानुकम्पयोर्निपातः ।

और नहीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से भिन्न है किन्तु प्रमाणों का सहायक होकर तत्त्वज्ञान में सहकारी होता है ।

**जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवन्तत् ।
ततो मया नचिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥**

२।१०॥

पदार्थ—यमाचार्य कहते हैं—(अहम्) मैं (जानामि) जानता हूँ कि (शेवधिः^१) सब धनादि ऐश्वर्य (अनित्यम्) अनित्य है (इति) इस प्रकार, और (अध्रुवैः) अस्थिर अनित्य धनादि ऐश्वर्यों से (हि) निश्चय कर (तत्) वह ध्रुवम्) निश्चल परब्रह्म (नहि, प्राप्यते) नहीं प्राप्त होता। (ततः) इसलिए धनादि ऐश्वर्य की इच्छा से रहित होकर अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठान के बाद (नचिकेतः) हे नचिकेता ! (मया) मैंने (अग्निः) यज्ञाग्नि का (चितः) चयन किया है अर्थात् तुम्हारे लिए उपदेश दिया है । क्योंकि (अनित्यैः) अनित्य (द्रव्यैः) यज्ञाग्नि में समर्पित किए पदार्थों से अन्तःकरणादि के शुद्ध होने से (नित्यम्) नित्य परब्रह्म को (प्राप्तवान्, अस्मि) प्राप्त हुआ हूँ ।

भावार्थ—यमाचार्य ने कहा हे नचिकेता ! मैं यह जानता हूँ कि इन प्रत्यक्ष भौतिक ऐश्वर्यों से नित्य परब्रह्म को नहीं जाना जा सकता । किन्तु मैंने जिस यज्ञाग्नि का चयन किया है, उसके द्वारा अनित्य पदार्थों के दान (हवन) करने से और निष्काम-भाव से यज्ञादि करने से अन्तःकरण के मोह, राग, द्वेषादि दोषों के नष्ट होने से मैं परब्रह्म के ज्ञान को प्राप्त करने में समर्थ हो सका हूँ । अतः मैंने तुम्हारे लिए भी उस अग्नि का उपदेश किया है ।

यमाचार्य के इस उपदेश से यह स्पष्ट है कि मुमुक्षु पुरुष के लिए भी यज्ञादि पुण्य कर्म अवश्य कर्तव्य हैं । शास्त्रों में निष्काम-भाव से अर्थात् कर्म-फल की इच्छा न करके 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।' (यजु०) कहकर जीवन भर शुभकर्मों के करने का उपदेश किया है । अतः कर्मों के परित्याग करने की नवीन वेदान्तियों की शिक्षा अवैदिक होने से मिथ्या ही है ।

यमाचार्य नचिकेता के विवेक की पुनः प्रशंसा करते हुए

कहते हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरानन्त्यमभयस्य पारम् ।
स्तोमं महदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः॥

॥२।११॥

पदार्थ—(नचिकेतः) हे नचिकेता ! तुमने (कामस्य) कामनावश स्त्री-सम्बन्धी भोगों की (आप्तिम्) प्राप्ति को (जगतः) जङ्गम मनुष्यादि प्राणियों की (प्रतिष्ठाम्) स्थिति अर्थात् लुब्धकरने वाले समस्त पदार्थों को (क्रतोः) राजसूयाश्वमेधादि यज्ञों के (अनन्त्यम्) अखण्ड भूगोल के साम्राज्यसुख को (अभयस्य) निर्भयता की (पारम्) पराकाष्ठा अन्तिम सीमा को (उरुगायम्) बहुत मनुष्यों से प्रशंसित (महद्, स्तोमम्) बड़ी स्तुति और (प्रतिष्ठाम्) सांसारिक उत्कृष्टतम स्थिति को (धृत्या) धैर्य से (दृष्ट्वा परिणाम में दुःखरूप देखकर या जानकर (अत्यस्त्राक्षीः) त्याग दिया है, इसलिए (धीरः) तुम धीर कहलाने योग्य हो ।

भावार्थ—इस प्रकरण में यमाचार्य ने नचिकेता को बार-बार ‘धीर’ (विवेकशील) कहा है । उसके कारणों पर प्रकाश डालते हुए यम कहते हैं कि संसार के जितने प्रलोभन तथा सुख हैं, वे सब प्रत्यक्ष में रुचिकर तथा परिणाम में दुःख देने वाले हैं । तुमने यह भली-भाँति विचार कर स्त्री-सम्बन्धी भोगों, लोक के ऐश्वर्यों अखण्ड-साम्राज्यों तथा इनसे भिन्न संसार की उत्कृष्टतम स्थितियों (जैसी दीर्घजीवी पुत्रों व पोतों को, गायान् दुधारु और हाथी व घोड़े आदि पशुओं को) और लौकिक सभी प्रतिष्ठाओं को त्याग दिया है, अतः तुम यथार्थ में ‘धीर’ हो ।

अब यमाचार्य नचिकेता के तीसरे वरदान के रूप में पूछे गए आत्मतत्त्व का उपदेश करते हैं—

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥२।१२॥

पदार्थ—(धीरः) विवेकी पुरुष (अध्यात्मयोगाधिगमेन^१) ज्ञानेन्द्रियों को अपने-अपने विषयों से रोककर परमात्मा के स्वरूप में चित्त को

१. ज्ञानेन्द्रियाणि विषयेभ्यः सन्निरुध्य परब्रह्मणः स्वरूपे चित्तस्य स्थितेः सम्पादनम् अध्यात्मयोगः । तथा चाह योगदर्शनकारः—

“योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥” “तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।”

स्थिर करना 'अध्यात्मयोग' कहलाता है । इस अध्यात्मयोग की प्राप्ति से (तम्) उस पूर्वोक्त (दुर्दर्शम्) कठोर तपादि साधनों से जानने योग्य (गूढम्^१) बाह्येन्द्रियों का विषय न होने से गुप्त (अनुप्रविष्टम्^२) अन्तःकरण और जीवात्मा में व्याप्त (गुहाहितम्^३) हृदयाकाश में स्थित (गह्वरेष्टम्) सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने से अत्यन्त दुर्गम स्थानों में भी स्थित (पुराणम्) अनादि सनातन (देवम्) प्रकाश करने वाले सूर्यादि प्रकाशक परब्रह्म को (मत्वा) जानकर (हर्ष-शोकौ) इष्ट को प्राप्ति से सुख और अनिष्ट की प्राप्ति से होने वाले दुःख को (जहाति) त्याग देता है ।

भावार्थ—यमाचार्य ने आत्मतत्त्व को समझाने के लिए परमात्मा के ज्ञान को अत्यावश्यक समझकर परमात्मा के स्वरूप को बताते हुए कहा कि जिस ब्रह्म को पहले 'श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः' कहा गया है, उसको धीर=विवेकी पुरुष अपनी इन्द्रियों की वृत्तियों को बाह्य विषयों से रोककर और परब्रह्म में स्थिर करके ही जान सकता है । क्योंकि वह ब्रह्म सरलता से नहीं जाना जा सकता । उसे बाह्येन्द्रियां तो जानने में कदापि समर्थ नहीं हो सकतीं, क्योंकि वह परम सूक्ष्म होने से हमारी आत्मा में भी व्याप्त है । वह एक अनादि सनातन सत्ता है, वह ऐसे दुर्गमनीय (जीवात्मा की पहुँच से परे) स्थानों में भी विद्यमान है । उसकी प्राप्ति का एकमात्र स्थान यह हमारा हृदयाकाश ही है । जब विवेकी पुरुष परब्रह्म को जान लेता है तो वह लौकिक सुख-दुःखों से प्रभावित नहीं होता अथवा ये सुख-दुःख उसे सुखी अथवा दुःखी नहीं कर पाते हैं । और वह धीर-पुरुष अपने लक्ष्य से कथञ्चिदपि विचलित नहीं होता । योगदर्शन के भाष्यकार इस विषय में लिखते हैं—

१. नैनद् देवाः आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ॥ (यजु० ४०।४) ।

२. यस्यात्मा शरीरम् ॥ (बृहदारण्यक)

अर्थात् परमात्मा का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है । वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक भाव से रहता है ।

३. “कण्ठ के नीचे, दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है; जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाशरूप एक स्थान है और उसके बीच में जो शक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान या मार्ग नहीं है ।” (ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः । सुखदुःखाश्च
क्लेशेषु व्याख्येयाः । सुखानुशयी रागः । दुःखानुशयी द्वेषः ।
मोहः पुनरविद्येति । एताः सर्वा वृत्तयो निरोद्धव्याः ॥

(योग० पाद १ । सू० ११ व्यासभाष्यम्)

अर्थात् ये सब वृत्तियां सुख-दुःख मोहरूप हैं और सुख-दुःख क्लेशों में कहे जाते हैं । सुख के पीछे रहने वाला राग है, दुःख के पीछे रहने वाला द्वेष है और मोह अविद्या है । ये सारी वृत्तियां निरोध करने योग्य हैं ।

उक्त दुर्लभ आत्मज्ञान को विरक्त नचिकेता के लिए सुलभ बताते हुए यमाचार्य कहते हैं ।

एतच्छ्रुत्वा सम्परिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य ।
स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा विवृतं सद्य नचिकेतसं मन्ये ॥२॥१३॥

पदार्थ—(मर्त्यः) मरणधर्मा मनुष्य (एतत्) इस पूर्वोक्त (धर्म्यम्^१) अपने जगदुत्पत्ति आदि धर्म से कभी विचलित न होने वाले ब्रह्म को (श्रुत्वा) योग्य गुरु से सुनकर (सम्परिगृह्य) सम्यक् जानकर (प्रवृह्य) ब्रह्म का निदिध्यासनादि से अपनी आत्मा में अनुभव बढ़ा करके (एतम्, अणुम्) इस सूक्ष्म ब्रह्म को (आप्य) प्राप्त होकर (सः) वह मनुष्य (मोदनीयम्) ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल सदाचरण से प्रसन्न करने योग्य ब्रह्म को (लब्ध्वा) प्राप्त होकर=अत्यन्त सान्निध्य में होकर (मोदते) आनन्दित हो जाता है । तुम ब्रह्म को प्राप्त करने की योग्यता रखते हो । अतः हे नचिकेता ! (नचिकेतसम्) तुम्हारे लिए ब्रह्म का (सद्य^२) घर अथवा मार्ग (विवृतम्) अनावृत=खुला हुआ है । ऐसा (हि) निश्चय से (मन्ये) मैं यमाचार्य जानता हूं ।

भावार्थ—यमाचार्य ने नचिकेता से कहा कि ब्रह्म अत्यन्त सूक्ष्म है और उसमें जगदुत्पत्ति, स्थिति, प्रलयादि के नियम बहुत अटल हैं, इसीलिए ब्रह्म को 'धर्म्य' पद से कहा गया है । जब मुमुक्षु पुरुष ब्रह्म

१. धर्म्यम्=धर्मादनपेतमिति धर्मशब्दात् “धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ।” (अ० ४।४।१२) सूत्रेणानपेतार्थे यत् प्रत्ययः ।

२. सद्य=सीदन्ति प्राप्नुवन्त्यस्मिन्निति सद्य ब्रह्मज्ञानस्य सदनं तच्च हृदयाकाश एव । तथा चोक्तम्—हृदये चित्तसंवित् । (योग० ३।३४) यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, तत्र विज्ञानं तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ॥

(व्यासभाष्यम्)

का श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा साक्षात्कार कर लेता है, तब वह आनन्द-मग्न हो जाता है । हे नचिकेता ! यह ब्रह्म-प्राप्ति का मार्ग तुम्हारे लिए खुला हुआ है, क्योंकि तुमने सत्याचरण-संयम तथा लोभादि वृत्तियों के त्याग से ब्रह्म को जानने की योग्यता प्राप्त कर ली है ।

आचार्य यम के उपदेश को सुनकर नचिकेता ब्रह्मविषयक अपनी जिज्ञासा को स्पष्ट करने के लिए प्रश्न करता है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मत् कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥२।१४॥

पदार्थ—हे आचार्य प्रवर ! आप (यत्) जिस को (धर्मात्) कर्त्तव्य=वैदिक यज्ञादि कर्मों से और (अधर्मात्) अकर्त्तव्य=हिंसादि कर्मों से (अन्यत्र) पृथक् (कृताऽकृतात्) कृत=कार्य तथा अकृत कारणरूप अर्थात् स्थूल व सूक्ष्मरूप जगत् से (अन्यत्र) भिन्न और (भूतात्) भूतकाल के (च) और (भव्यात्) भविष्यत् काल के (च) और वर्तमानकाल के व्यवहार से (अन्यत्र) भिन्न (पश्यसि) जानते हो (तत्) धर्माधर्म, कृताऽकृत तथा काल के बन्धन से रहित ब्रह्म को (वद) कहिए=उपदेश कीजिए ।

भावार्थ—ब्रह्म=ईश्वर का लक्षण करते हुए योगदर्शनकार लिखते हैं—**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥** (यो० १।२४) इस सूत्र की व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—“अब ईश्वर का लक्षण कहते हैं कि (क्लेशकर्म) अर्थात् इसी प्रकरण में आगे लिखे हैं जो अविद्यादि पांच क्लेश और अच्छे बुरे कर्मों की जो जो वासना, इन सब से जो सदा अलग और बन्धरहित है, उसी पूर्ण पुरुष को ईश्वर कहते हैं ॥” (ऋ० भू० उपासना०)

इस प्रकार ईश्वर अविद्यादि क्लेशों, कुशल व अकुशल कर्मों की वासना और सर्वविध बन्धनों से रहित है । व्यासमुनि ने (यो० १।२४) सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

“ईश्वरस्य तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी.....स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वरः ।” अर्थात् परमेश्वर को अविद्यादि का बन्धन न तो हुआ और

१. क्लेशादि की व्याख्या में व्यासमुनि लिखते हैं—“अविद्यादयः क्लेशाः । कुशलाकुशलानि कर्माणि । तत्फलं विपाकः । तदनुगुणा वासना आशयाः ।”

न ही कभी होगा । वह तो सदा ही मुक्त और सदा ही ईश्वर है ।

नचिकेता ने यमाचार्य से ऐसे कालातीत व इन्द्रियविषयातीत ब्रह्म को जानने के लिए प्रार्थना की है । नचिकेता ने प्रथम मृत्यु के पश्चात् आत्मा के अस्तित्व के विषय में प्रश्न पूछा था, किन्तु यमाचार्य ने प्रथम उसका उत्तर न देकर हर्ष-शोक की निवृत्ति का कारण जो ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान बताया है, इसलिए ब्रह्म के विषय में यह प्रश्न किया गया है ।

वह परब्रह्म कालातीत है, इस विषय में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

“ईश्वर को त्रिकालदर्शी कहना मूर्खता का काम है । क्योंकि जो होकर न रहे वह भूतकाल, न होके होवे वह भविष्यत्काल कहाता है। क्या ईश्वर को कोई ज्ञान होके नहीं रहता तथा न होके होता है ? इसलिए परमेश्वर का ज्ञान सदा एकरस, अखण्डित वर्तमान रहता है । भूत, भविष्यत् जीवों के लिए हैं । हां जीवों के कर्म की अपेक्षा से त्रिकालज्ञता ईश्वर में है, स्वतः नहीं । जैसा स्वतन्त्रता से जीव करता है वैसा ही सर्वज्ञता से ईश्वर जानता है और जैसा ईश्वर जानता है वैसा जीव करता है ।”

(सत्यार्थ० सप्तमसमु०)

अब यमाचार्य नचिकेता को ब्रह्म का उपदेश करते हैं—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत् ॥

॥२॥१५॥

पदार्थ—(यत्) जिस (पदम्^१) प्रापणीय ब्रह्म का (सर्वे वेदाः) ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद, ये सभी चारों वेद (आमनन्ति^२) बार-बार प्रतिपादन करते हैं (च) और (सर्वाणि, तपांसि^३) सब सत्यभाषणादि धर्मानुष्ठानरूप तप (यद्) जिसको (वदन्ति) कहते हैं अर्थात् जिसकी प्राप्ति के लिए ही सब तप किए जाते हैं (यम्) जिसकी (इच्छन्तः) प्राप्ति की इच्छा करते हुए (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्यादि आश्रमों के नियमों

१. पदम्=पदनीयं सर्वोत्तमोपायैर्मनुष्यैः प्रापणीयं मोक्षाख्यमस्ति तत्॥

(ऋ० भू० महर्षि-दयानन्द)

२. “मना अभ्यासे” (भ्वा०) धातो रूपमेतत् । “पान्ना०” इत्यादिना मनादेशः ।

३. “ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मैतद् उपास्व, एतत् तपः ।”

(तैत्ति० आरण्य० प्रपा० १० । अनु० ८)

का (चरन्ति) अनुष्ठान करते हैं (तत्, पदम्) उस=पूर्वोक्त गुणविशिष्ट प्रापणीय ब्रह्म को (ते) तेरे लिए (संग्रहेण) संक्षेप से ब्रवीमि मैं यमाचार्य कहता हूँ (एतत्) यह (ओम्, इति) 'ओम्' उसका मुख्य नाम है, इस प्रकार सब को जानना चाहिए ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की इस प्रकार व्याख्या की है—

“क्योंकि सब वेद, सब धर्मानुष्ठानरूप तपश्चरण जिसका कथन और मान्य करते और जिसकी प्राप्ति की इच्छा करके ब्रह्मचर्याश्रम करते हैं, उसका नाम 'ओम्' है ।” (सत्यार्थ० प्रथमसमु०)

“यमराज कहते हैं कि हे नचिकेता । जिसका अभ्यास सब वेद करते हैं, उस ब्रह्म का उपदेश मैं तुझ को करता हूँ । तू सुनकर धारण करा ।” (ल० भ्रमो० ३६६ पृ०)

(सर्वे वेदाः०) परम पद अर्थात् जिसका नाम मोक्ष है, जिसमें परब्रह्म को प्राप्त होके सदा सुख में रहना, जो सब आनन्दों से युक्त सब दुःखों से रहित और सर्वशक्तिमान् परब्रह्म है, जिसके नाम (ओम्) आदि हैं, उसी में सब वेदों का मुख्य तात्पर्य है ।उसी की प्राप्ति कराने में सब वेद प्रवृत्त हो रहे हैं उसकी प्राप्ति के आगे किसी पदार्थ की प्राप्ति उत्तम नहीं है, क्योंकि जगत् का वर्णन—दृष्टान्त और उपयोगादि का करना सब परब्रह्म को ही प्रकाशित करते हैं तथा सत्यधर्म के अनुष्ठान जिनको तप कहते हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति के लिए हैं तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम के सत्याचरणरूप जो कर्म हैं, वे भी परमेश्वर की ही प्राप्ति कराने के लिए हैं, जिस ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा करके विद्वान् लोग प्रयत्न और उसी का उपदेश भी करते हैं । नचिकेता और यम इनका परस्पर यह संवाद है कि हे नचिकेता ! जो अवश्य प्राप्ति करने के योग्य परब्रह्म है, उसी का मैं तेरे लिए संक्षेप से उपदेश करता हूँ । और **यहां यह भी जानना उचित है कि अलङ्काररूप कथा से नचिकेता नाम से जीव और यम से अन्तर्यामी परमात्मा को समझना चाहिए ।**”

(ऋ० भू० वेदविषय० ३४ पृ०)

“(ओम्०) ओमिति^१ परमेश्वरस्य नामास्ति तदेव परं ब्रह्म सर्वे वेदा

१. तस्य वाचकः प्रणवः ॥

(योग० पा० १ । सू० २०)

ओ३म् खं ब्रह्म ॥

(यजु० अ० ४०।१७)

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ॥

(माण्डूक्यो०)

एतदादिभिः=प्रमाणैः सिध्यति यत् परमेश्वरस्य मुख्यं नाम ओमिति॥

आमनन्ति=आसमान्तादभ्यस्यन्ति=मुख्यतया प्रतिपादयन्ति (तपांसि) सत्य-
धर्मानुष्ठानानि तपांस्यपि तदभ्यासपराण्येव सन्ति (यदिच्छन्तो०) ब्रह्मचर्य-
ग्रहणमुपलक्षणार्थं ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यासाश्रमाचरणानि सर्वाणि
तदेवामनन्ति=ब्रह्मप्राप्त्यभ्यासपराणि सन्ति । यद् ब्रह्मेच्छन्तो विद्वांसस्तस्मिन्-
ध्यासमाना वदन्ति=उपदिशन्ति च । हे नचिकेतः ! अहं यमो यदीदृशं
पदमस्ति तदेतत्ते तुभ्यं संग्रहेण संक्षेपेण ब्रवीमि ।”

(ऋ० भू० वेदविषय ३३ पृ०)

उपर्युल्लिखित व्याख्या महर्षि-दयानन्द ने यह बताते हुए भिन्न-भिन्न
स्थानों पर की है कि वेदों में केवल अपरा विद्या ही नहीं, प्रत्युत परा
व अपरा दोनों विद्याओं का वर्णन है । यद्यपि महर्षि ने वेदों में विज्ञान,
कर्म, उपासना तथा ज्ञानकाण्ड भेद से चार विषय माने हैं, किन्तु सब से
मुख्य विज्ञानविषय को माना है, जिसके द्वारा ज्ञान, कर्म, उपासना इनका
उपयोग लेकर परमेश्वर से लेके तृणपर्यन्त पदार्थों का बोध होता है और
परमेश्वर का यथावत् ज्ञान होता है । महर्षि ने यहां ‘तप’ का अर्थ प्रमाण
लिखकर सत्याचरणादि को माना है । ‘तप’ शब्द का साम्प्रदायिक लोगों
ने जो मिथ्या अर्थ मान लिया था उनके विषय में महर्षि लिखते हैं—

“रामानुजीयादि लोग इस मन्त्र (पवित्रं ते विततं०) से चक्राङ्कित
होना सिद्ध क्योंकर करते हैं.....क्योंकि इस मन्त्र में ‘अतप्ततनूः’ शब्द है,
किन्तु “अतप्तभुजैकदेशः ।” नहीं ।”

पुनः ‘अतप्ततनूः’ यह नखशिखाग्रपर्यन्त समुदाय अर्थ है इस
प्रमाण करके अग्नि ही से तपाना चक्राङ्कित लोग स्वीकार करें तो
अपने-अपने शरीर को भाड़ में झोंक के सब शरीर को जलावें तो भी
इस मन्त्र के अर्थ के विरुद्ध है क्योंकि इस मन्त्र में सत्यभाषणादि पवित्र
कर्मों को करना तप लिया है ।

ऋतं तपः सत्यं तपो दमस्तपः स्वाध्यायस्तपः० ॥ (तैत्तिरीय०)

इत्यादि तप कहाता है अर्थात् (ऋतं तपः) यथार्थ शुद्धभाव, सत्य मानना,
सत्य बोलना, सत्य करना, मन को अधर्म में न जाने देना, बाह्य इन्द्रियों को
अन्यायाचरणों में जाने से रोकना । अर्थात् शरीर, इन्द्रिय और मन से शुभ
कर्मों का आचरण करना वेदादि सत्य विद्याओं का पढ़ना-पढ़ाना, वेदानुसार
आचरण करना आदि उत्तमधर्मयुक्त कर्मों का नाम ‘तप’ है । धातु को तपा
के चमड़ी को जलाना तप नहीं कहाता ।” (सत्यार्थ० एकादशसमु०)

“तपः सदैव धर्मानुष्ठानमेव कर्त्तव्यम्, वेदादिसत्यशास्त्राणा-
मध्यानाध्यापने प्रणवजपो वा ।”

“(तपः) जैसे सोने को अग्नि में तपा के निर्मल कर देते हैं, वैसे ही आत्मा और मन को धर्माचरण और शुभ गुणों के आचरण रूप तप से निर्मल कर देना ।” (ऋ० भू० उपासना-विषयः, पृ० १४०)

तप का फल बताते हुए योगदर्शन में कहा है—

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ॥ (योग० २।४३)

अर्थात् तप वह है कि जिससे अशुद्धि का विनाश होने से शरीर तथा इन्द्रियों की सिद्धि=निर्मलता होती है ।

भावार्थ—यमाचार्य ने नचिकेता को ब्रह्म का उपदेश देते हुए कहा है कि उस ब्रह्म का मुख्य नाम ‘ओम्’ है । ऋग्वेदादि चारों वेदों में ब्रह्म तथा ब्रह्मप्राप्ति के साधनों का ही विशेष वर्णन किया गया है । वेदों को पढ़कर यदि ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता तो “यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति” (ऋग्वेद) स्वयं वेद-मन्त्र में वेद-पढ़ना निरर्थक बताया है । ब्रह्म-प्राप्ति का साधन केवल ज्ञान ही नहीं है, प्रत्युत सत्याचरणादि तप से शुद्धान्तःकरण करना भी बहुत आवश्यक है । मानव के ब्रह्मचर्यादि चारों आश्रमों में अवस्थानुसार जो धर्म निर्धारित किए हैं, वे भी ब्रह्म-प्राप्ति के अवस्थानुसार साधन ही हैं । इस प्रकार चारों वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय तथा योगाङ्गानुष्ठानरूप तप व चारों आश्रमों का परम लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति ही है ।

परब्रह्म का मुख्य नाम ‘ओम्’ है, उसका ज्ञान करना ब्रह्मज्ञान के लिए परमावश्यक बताते हुए यमाचार्य कहते हैं—

एतद्व्येवाक्षरं ब्रह्म ह्येतदेवाक्षरं परम् ।

एतद्व्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥२।१६॥

पदार्थ—(एतत्) यह ‘ओम्’ (हि, एव^१) ही (अक्षरम्^२)

१. अवधारणवाचकपदद्वयेनान्यस्य सर्वथा प्रतिषेधः कथ्यते । अर्थात् यहां ‘हि, एव’ ये दोनों पद निश्चयार्थ के बोधक हैं । जिससे स्पष्ट है कि ब्रह्म का ‘ओम्’ ही मुख्यनाम है ।

२. ‘अक्षरम्’ पद के दो अर्थ हैं—(१) विनाश-रहित (२) व्यापक । इसमें निम्नलिखित प्रमाण हैं—“अक्षरं नक्षरं विद्याद् अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।”

नाश-रहित शाश्वत (ब्रह्म) ब्रह्म है । (एतत्, एव) यह 'ओम्' ही (हि) निश्चय से (परम्) सर्वाधिक सूक्ष्म होने से (अक्षरम्) अक्षर=व्यापक है, इससे सूक्ष्म कोई नहीं है । (एतत्) इस अविनाशी ब्रह्म को (हि, एव) ही निश्चय से (ज्ञात्वा) जान कर (यः) जो पुरुष (यत्) जो, सांसारिक या पारलौकिक सुख (इच्छति) चाहता है, (तत्) वह सुख (तस्य) उसको अवश्य प्राप्त हो जाता है ।

भावार्थ—मानव-जीवन का लक्ष्य सांसारिक तथा मुक्तिसुख को प्राप्त करना है । किन्तु परम-लक्ष्य मुक्ति को प्राप्त करना है। इन उभयविध सुखों की प्राप्ति परब्रह्म के ज्ञान और उसके मुख्य-नाम 'ओम्' के सार्थक जप से होती है । इस श्लोक में परब्रह्म की दो मुख्य विशेषताओं का वर्णन किया गया है—

(१) वह ब्रह्म अक्षर=अविनाशी है । उसका विनाश प्रलय में भी नहीं होता । जैसे कि वेद में कहा है—'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे०' (यजु०) वह ब्रह्म सृष्टि से पूर्व प्रलय के समय में भी विद्यमान था और अब भी है । उसी ने सब जगत् की रचना की है, वह ही इसका पालक तथा संहारक है ।

(२) ब्रह्म की प्रथम विशेषता जीवात्मा में भी घट जाती है, क्योंकि वह भी अनादि है । इसलिए यहां ब्रह्म की दूसरी विशेषता यह बताई है कि वह ब्रह्म परम्=बहुत अक्षरम्=व्याप्त है । वह प्रकृति तथा जीवात्मा में भी व्यापक है । व्यापक होने से ही ब्रह्म जगत् का एकमात्र नियन्ता है । अन्यत्र उपनिषदों में 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृह०) कहकर जीवात्मा को परमात्मा का शरीर कहा है । ऐसे जगन्नियन्ता, सनातन तथा विभु ब्रह्म को मोक्षादि सुख-प्राप्ति के लिए जानना परमावश्यक है।

ईश्वर के मुख्य-नाम ओम् के विषय में व्यासमुनि लिखते हैं—

'किमस्य सङ्केतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितमिति? स्थितोऽस्य वाचकेन सह सम्बन्धः। यथाऽवस्थितः पितापुत्रयोः सम्बन्धः॥

(यो० पा० १। सू० २७ व्यास०)

(महाभाष्ये, नवाह्निके) अर्थात् 'अक्षर' का प्रथम अर्थ है—न क्षरतीति=अक्षरम्। जो कभी नाश को प्राप्त न हो । द्वितीय अर्थ है—व्यापक । 'अशूङ् व्याप्तौ' धातु से औणादिक 'सरन्' प्रत्यय करने पर 'अक्षर' शब्द सिद्ध होता है—अशुनत इत्यक्षरम् । जो प्रत्येक पदार्थ में अति सूक्ष्म होने से व्यापक है, वह ब्रह्म अक्षर-पदवाच्य है ।

अर्थात् ईश्वर का वाचकरूप ओम् के साथ सङ्केतकृत (कृत्रिम) सम्बन्ध है या नित्य है ? वाच्य ईश्वर और वाचक ओम् का नित्य सम्बन्ध है । जैसे पिता-पुत्र का नियत सम्बन्ध होता है ।

अब 'ओम्' की उपासना ही सर्वोपरि है । यह कथन करते हैं—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।

एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥२।१७॥

पदार्थ—ब्रह्मप्राप्ति तथा ब्रह्मज्ञान के समस्त साधनों में (एतत्) इस ब्रह्म के मुख्य नाम 'ओम्' का (आलम्बनम्) उपासना में जप रूप में आश्रय करना (श्रेष्ठम्) अत्यन्त प्रशस्त और (एतत्) यही (आलम्बनम्) साधन (परम्) सर्वोपरि है । (एतत्) इस (आलम्बनम्) 'ओम्' के जप तथा तदर्थभावना रूप साधन को (ज्ञात्वा) जानकर (ब्रह्मलोके) ब्रह्म के सान्निध्य से होने वाले मोक्ष-सुख में (महीयते) सब दुःखों से छूटकर शान्ति-रूप सुख से पूजित=सत्कृत होता है अर्थात् 'ओम्' के जप से ही मोक्ष को प्राप्त कर लेता है ।

भावार्थ—ब्रह्म-ज्ञान के समस्त साधनों में 'ओम्' का जप करना तदर्थ के अनुसार भावना बनाना सर्वोत्तम उपाय है; क्योंकि 'ओम्' ही ब्रह्म का मुख्य नाम है । योगदर्शन में इस विषय में स्पष्ट लिखा है—

तस्य वाचकः प्रणवः ।

(योग० १।२७)

तज्जपस्तदर्थभावना ॥

(योग० १।२८)

अर्थात् परब्रह्म का मुख्य वाचक नाम 'ओम्' है । और इस 'ओम्' के जप करने और अर्थ विचारने से समाधि-लाभ होता है। इस प्रमुख साधन के आश्रय से ही मनुष्य ब्रह्मलोक=ब्रह्म के जिज्ञासुओं में श्रेष्ठ होने से महिमा को प्राप्त करता है और ब्रह्म के लोक=मोक्ष-सुख को प्राप्त करके पूजित होता है ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—

'ब्रह्मलोके महीयते=परस्मिन् ब्रह्मण्यपरस्मिश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः ।' अर्थात् परब्रह्म और अपर ब्रह्म में ब्रह्म भाव को प्राप्त ब्रह्म की भांति उपासनीय हो जाता है ।

यह व्याख्या मूल से विरुद्ध होने से कदापि मान्य नहीं हो सकती। उपनिषद् के पाठ में किसी शब्द से भी यह भाव प्रकट नहीं हो रहा है।

उपास्य-उपासक का सर्वज्ञ-अल्पज्ञ का तथा व्यापक-व्याप्य का भेद न मानना परस्पर विरोध होने से सत्य नहीं है ।

अब परमात्मा के जन्मादि के निषेध का कथन करते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित् ।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयम्पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२।१८

पदार्थ—(अयम्) यह (विपश्चित्) ज्ञानस्वरूप अथवा सर्वज्ञ ब्रह्म (न, जायते) उत्पन्न नहीं होता (वा) और (न, म्रियते) न मरता है (कुतश्चित्) किसी भी उपादान कारण से (न, बभूव) उत्पन्न नहीं होता और (न, कश्चित्) न कोई पदार्थ उस ब्रह्म से (बभूव) उत्पन्न होता है अर्थात् न तो ब्रह्म का कोई उपादान कारण है और नहीं ब्रह्म ही किसी का उपादान कारण है । अतः वह ब्रह्म (अजः) अजन्मा है (नित्यः) कूटस्थ नित्य अर्थात् अपरिणामी है, जैसे दूध का विकार दही होता है, वैसे विकार अथवा घटना-बढ़ना ब्रह्म का नहीं होता और (शाश्वतः) वह ब्रह्म अनादि है (पुराणः) सदा रहनेवाला अथवा 'पुराणम्=पुरा नवं भवति' (निरुक्ते) इस प्रमाण के अनुसार वह ब्रह्म अब की तरह पहले भी नवीन होने से सदा एकरस रहता है और (शरीरे) प्रकृति के कार्यरूपी शरीर के (हन्यमाने) नष्ट होने पर=कारण में लय होने पर भी (न, हन्यते) नष्ट नहीं होता है ।

भावार्थ—वेद में कहा है कि वह परमात्मा 'स पर्यगाच्छुक्रम् अकायम्०' (यजु०) स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण शरीरों से रहित है । और शरीर के संयोग का नाम जन्म और वियोग का नाम मृत्यु है । वह परमात्मा (परब्रह्म) इसलिए जन्म तथा मृत्यु दोनों से रहित है । और उपनिषदों में अन्यत्र कहा है कि 'न तस्य कार्यं करणञ्च विद्यते' (मुण्डक०) उस परमात्मा का ना तो कोई कारण है और नहीं कोई कार्य है । इसी प्रकार यहां कहा है कि उसका कोई उपादान कारण नहीं है और नहीं वह किसी का उपादान कारण है । और 'शीर्यते इति शरीरम्' नष्ट होने वाले पदार्थ को शरीर कहते हैं, अथवा 'शरीर' शब्द का दूसरा अर्थ है—“अथ यत्सर्वमस्मिन्नाश्रयन्त तस्मादु शरीरम्” (शत० ६।१।१४) इस प्रमाण के अनुसार आश्रय देने वाले को भी शरीर कहते हैं ।

परमात्मा का शरीर क्या है ? जगत् का उपादानकारण यह प्रकृति

ही उसका शरीर^१ है । उसके नष्ट होने पर भी वह परमात्मा नष्ट नहीं होता । अतः वह अजः=अजन्मा है, इसलिए भी वह किसी का कार्य नहीं है । उत्पन्न होने वाले पदार्थों में ही कार्य-कारणभाव होता है । अजा=अजन्मा तो प्रकृति^२ भी है, अतः अतिव्याप्तिदोष को दूर करने के लिए 'नित्यः=अपरिणामी' 'पुराणः=एकरस' आदि शब्दों से ब्रह्म और प्रकृति के भेद को स्पष्ट किया । क्योंकि प्रकृति परिणामी होने से एकरस नहीं रहती । और जो मनुष्य परमात्मा के अवतार को मानकर उसका जन्म मानते हैं, और जन्म है तो मृत्यु भी अवश्य होगी । उन्हें इस श्लोक पर विशेष ध्यान देना चाहिए, क्योंकि वह जन्म-मरण से रहित है ।

कुछ व्याख्याकारों ने इस श्रुति की व्याख्या तथा १९वीं श्रुति की व्याख्या जीवात्मा व परमात्मा सम्बन्धी की है । यद्यपि १८-१९ दोनों श्रुतियों का सम्बन्ध जीव-ब्रह्म दोनों के साथ संगत होता है, परन्तु पूर्वापर प्रकरण को देखने से यही स्पष्ट होता है कि इनमें परमात्मा का ही वर्णन है । जैसे 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः०' (२३) आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्०' (२०) इत्यादि श्रुतियों से भी 'आत्मा' शब्द से यहां परमात्मा का ग्रहण ही अभिप्रेत है ।

वह ब्रह्म अच्छेद्य व अभेद्य है और जीवों को कर्मानुसार फल की व्यवस्था करता है । ब्रह्म को मरने वाला या मारने वाला समझने वाले दोनों ही अज्ञानी हैं, अब यह कथन करते हैं—

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम् हतश्चेन्मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥२११॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (हन्ता) कोई हिंसक व्यक्ति (मन्यते) ऐसा समझता है कि (हन्तुम्) मैं आत्मा के हनन करने में समर्थ हूँ और (हतः) मृत्यु आदि को प्राप्त प्राणी (चेत्) यदि (हतम्) आत्मा से मारा

१. मनु जी ने लिखा है—(क) “सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ॥” (मनु० १।८)

(ख) यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट् ।

तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥ (मनु० १।१७)
इस प्रकार प्रकृति को ही ब्रह्म का शरीर कहा गया है ।

२. मूल प्रकृति को उपनिषदों में अजा=अजन्मा कहा है—

“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम्०” ॥

गया हूं, ऐसा (मन्यते) समझता है तो (तौ, उभौ) वे दोनों आत्मा को मरने तथा मारने वाला मानने वाले (न विजानीतः) आत्मतत्त्व को नहीं जानते, क्योंकि (अयम्) यह आत्मा (न हन्ति) न तो मारता है और (न हन्यते) न मारा जाता है ॥

भावार्थ—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि परमात्मा अच्छेद्य तथा अभेद्य है । न इसको कोई मार सकता है और नहीं यह किसी को मारता है । जो लोग ऐसी भ्रान्ति फैलाते हैं कि वह परमात्मा ही जीवों को मृत्यु आदि से युक्त करता है, यह एक मिथ्या धारणा है। सब प्राणी अपने कर्मों के अनुसार ही फल प्राप्त करते हैं, यह ईश्वरीय अटल व्यवस्था है । हम अपने कर्मों से अपने जीवन-काल को घटा-बढ़ा सकते हैं । ब्रह्मचर्यपालनादि नियमों पर चलकर ३००-४०० वर्षों तक मानव जीवित रह सकता है । कुछ व्याख्याकार इस श्रुति की भी व्याख्या जीवात्मा व परमात्मा से सम्बद्ध करके करते हैं किन्तु प्रकरण परमात्मा का है, अतः जीवात्म-परक व्याख्या नहीं की है । और जीवात्मा के शरीर के साथ संयोग को जन्म और शरीर से वियोग होने को मृत्यु कहा जाता है । परमात्मा का ऐसा संयोग तथा वियोग कदापि नहीं होता, अतः वह जन्म-मरण से रहित होने से कदापि अवतारादि भी धारण नहीं करता ।

अब उस परब्रह्म की सूक्ष्मता व महत्ता का वर्णन करते हुए यह कथन करते हैं कि उस परब्रह्म का साक्षात्कार कौन कर सकता है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥२॥२०॥

पदार्थ—(आत्मा^१) वह व्यापक ब्रह्म (अणोः) सूक्ष्म से भी (अणीयान्) अत्यन्त सूक्ष्म है और वह (महतः) आकाश, पृथिवी आदि बड़े-बड़े पदार्थों से भी (महीयान्^२) सर्वत्र व्यापक होने से अत्यन्त महान्

१. निरुक्त में कहा है—“आत्मा अततेर्वाप्तेर्वा ।” (निरुक्ते)
‘आत्मा’ शब्द जीवात्मा तथा परमात्मा दोनों के लिए आता है । जन्म-जन्मान्तरों में गमन करने से जीवात्मा के लिए और सर्वव्यापक होने से परमात्मा के लिए ‘आत्मा’ का प्रयोग होता है ।

२. आ प्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥
(य० ७। ४२) अर्थात् वह ब्रह्म द्युलोक, पृथिवी लोक तथा अन्तरिक्ष में सब तरफ से पूर्ण है ।

है और (अस्य) इस शरीरस्य (जन्तोः) जीवात्मा के (गुहायाम्) हृदय रूप गुफा में (निहितः) स्थित=विराजमान है अर्थात् परब्रह्म की प्राप्ति का स्थान हृदय ही है, क्योंकि यहां उपास्य, उपासक का मिलन होता है। (आत्मनः) और उस व्यापक परमात्मा की (तम्) उसे पूर्वोक्त (महिमानम्) महिमा को=विशालता को (धातुप्रसादात्) सब को धारण करने वाले परब्रह्म की अभिमानादि दोषों के छूटने पर कृपा=अनुग्रह से (अक्रतुः) कर्मफल की इच्छा न रखने वाला, (वीतशोकः) शोक-रहित विद्वान् पुरुष ही (पश्यति) जान लेता है=प्रत्यक्ष करता है=साक्षात् अनुभव करता है ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की भिन्न-भिन्न स्थानों में इस प्रकार व्याख्या की है—

(१) ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के ५९ पृ० पर ‘उपास्य देव कौन है, इसका उत्तर देते हुए महर्षि लिखते हैं—

“अणोरणीयान्” इत्यादि उपनिषदों के विशेषणों से जिसका प्रतिपादन किया है, उसी की उपासना आर्य लोग सदा से करते आए हैं ।”

(२) ‘वेदविरुद्ध मत-खण्डन’ पुस्तक में महर्षि लिखते हैं—

“वह सूक्ष्म से सूक्ष्म और बड़े से बड़ा है । इस जीव के अन्तःकरण में व्याप्त उपलब्ध होने वाला है ।” (लघु० वे० ख० २९)

(३) “वेदान्ति-ध्वान्तनिवारणम्” पुस्तक में जीव-ब्रह्म का भेद प्रतिपादन करते हुए महर्षि लिखते हैं—

“जो सूक्ष्म से सूक्ष्म, बड़े से बड़ा परमात्मा इस जीव के ज्ञान अर्थात् जीव के बीच में निहित (स्थित) है । परन्तु उस सर्वात्मा को अभिमान्यशून्य, शोकादिदोषरहित, परमात्मा का कृपापात्र जीव ज्ञान से देखता है और उस आत्मा अन्तर्यामी परमात्मा की महिमा, सर्वशक्तिमत्त्व और व्यापकत्वादि गुण को भी वही देखता है, अन्य नहीं । इसमें भी जीव-ईश्वर का भेद निरूपित है ।” (लघु० वे० खं० ८३)

भावार्थ—यह परब्रह्म सूक्ष्मातिसूक्ष्म है । उसकी अपेक्षा जीवात्मा तथा प्रकृति भी स्थूल हैं । उसकी महिमा का तो वर्णन ही नहीं किया जा सकता । क्योंकि उससे बड़ी कोई वस्तु नहीं है । वह तो अनन्त है । और वह अत्यन्त सूक्ष्म होने से जीवात्मा में भी व्यापक हो रहा है । जैसा कि अन्यत्र उपनिषदों में कहा है—“य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम् ।” (बृहदारण्यको०) अर्थात् वह परमात्मा जीवात्मा

के अन्दर भी व्यापक है, जिसे जीव जान नहीं पाता । जिस परमात्मा का जीवात्मा शरीर है किन्तु उस ब्रह्म का साक्षात्कार तभी होगा, जबकि लौकिक इच्छाओं के फल की इच्छा को त्यागकर शोकादि से मुक्त हो जाता है। और जब उस प्रभु की, जो सब का धाता=धारण करनेवाला है, अनुकम्पा होती है । जैसे कि उपनिषदों में अन्यत्र कहा गया है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः...यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ॥

(मुण्डको० ३।२।३)

अर्थात् उस ब्रह्म की प्राप्ति केवल उपदेश से ही नहीं, प्रत्युत प्रभु की अनुकम्पा से होती है। कठोप० में भी (२।२३) में यही बात कही है। और योगदर्शनकार ने भी कहा है—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ (यो० १।२३)

प्रणिधानाद् भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वरस्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण ॥

(व्यासभाष्यम्)

अर्थात् ईश्वर-भक्तिविशेष करने से भक्त पर अनुकम्पित होता है।

समीक्षा—कुछ व्याख्याकारों ने इस श्लोक के ‘धातुप्रसादात्’ का अर्थ इन्द्रियों की प्रसन्नता किया है । किन्तु यहां यह उचित प्रतीत नहीं होता । क्योंकि इसी प्रकरण में (२।२३) में परमात्मा की अनुकम्पा का ही वर्णन स्पष्ट हो रहा है । और ‘धातु’ शब्द इन्द्रियों के लिए प्रसिद्ध भी नहीं है, शरीरस्थ रस, रक्तादि के लिए तो इस ‘धातु’ शब्द का प्रयोग होता है, किन्तु यहां इनका ग्रहण प्रकरणविरुद्ध होने से उचित नहीं है । इस श्रुति में जीव-ब्रह्म का द्रष्टा-दृश्य तथा व्याप्य-व्यापकभाव सम्बन्ध बताते हुए दोनों में स्पष्ट रूप से भिन्नता कही है—‘आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्’ अर्थात् वह परमात्मा हृदयस्थ जीवात्मा में भी व्यापकभाव से स्थित है । जीवात्मा एकदेशी है और परमात्मा सर्वत्र व्यापक है । दोनों के एक होने पर कौन किस को देखता है ? और स्वामी शङ्कराचार्य ने यहां यही अर्थ किया है—

स चात्मा जन्तोः प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहितः ॥

अर्थ—वह परमात्मा प्राणियों के हृदय में स्थित है । अतः जीव-ब्रह्म की एकता का स्पष्ट खण्डन हो रहा है और इस श्रुति के ‘धातुप्रसादात्’ का अर्थ श्रीशङ्कराचार्य ने यह किया है—‘मन आदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात् प्रसीदन्ति ।’ अर्थ—मन आदि इन्द्रियों

को शरीर के धारण करने से धातु कहा गया है । यह उनकी व्याख्या प्रसङ्गविरुद्ध तथा योगदर्शन से भी विरुद्ध है । और रस-रक्तादि के लिए तो 'धातु' शब्द प्रसिद्ध है, परन्तु इन्द्रियों के लिए नहीं ।

और इस श्लोक में पठित 'अक्रतुः' पद का अर्थ निष्क्रिय भी ठीक नहीं है । क्योंकि "नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्" (गीता०) कोई भी मनुष्य निष्क्रिय तो कभी हो ही नहीं सकता । और 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' (यजु०) कहकर वेद में पूर्ण-आयु तक कर्म करने का उपदेश दिया है । अतः इस शब्द का अर्थ 'निष्काम-कर्म' ही उचित तथा सङ्गत है । नवीन-वेदान्तियों की यह भ्रान्त धारणा है कि हमारे लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं है । क्या वे श्वास-प्रश्वास लेना, आहार-विहार करनादि क्रियाओं का भी परित्याग कर सकते हैं ? यदि नहीं, तो श्रेष्ठ कर्मों का भी त्याग उन्हें नहीं करना चाहिए ।

उस परब्रह्म का ज्ञाता कोई विरला ही होता है इस भाव को बताते हुए उस के निर्विशेषस्वरूप का निरूपण करते हैं—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।

कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥२।२१॥

पदार्थ—वह ब्रह्म (आसीनः, अपि) सर्वत्र व्यापक होने से स्थित=अचल होता हुआ भी (दूरम्) दूर वा अत्यन्त दूर तक (व्रजति) प्राप्त हो रहा है, अथवा सब को गति दे रहा है (शयानः, अपि) सर्वव्यापक होने से शयन करता हुआ भी (सर्वतः) सब ओर (याति) प्राप्त हो रहा है । (तम्) उस (मदामदम्) मद=आनन्दस्वरूप और अमद लौकिक सुखों से रहित (देवम्) प्रकाशक देव को (मद्-अन्यः) मेरे से (यमाचार्य) से दूसरा (कः) कौन (ज्ञातुम्) जानने को (अर्हति) समर्थ हो सकता है ।

भावार्थ—वह ब्रह्म सर्वत्र एकरस होकर व्याप्त हो रहा है । अतः निश्चल होने से ठहरा हुआ भी मानव की दृष्टि में दूर या दूरतम स्थानों में प्राप्त है । अथवा अन्तर्भावितण्यदर्थ मानकर वह सब को गति दे रहा है । जैसा कि वेद में कहा है—अनेजदेकं मनसो जवीयः । (यजु० ४०।४) अर्थात् ब्रह्म कूटस्थ नित्य होने से कभी चलायमान नहीं होता और वह सर्वत्र शयन=लेटा हुआ=स्थित सत्ता वाला है, अतः सूक्ष्माति सूक्ष्म पदार्थों में सब ओर से विद्यमान है । वह स्वयम् आनन्दस्वरूप होने

से 'मद' और लौकिकसुखों से पृथक् रहने के कारण 'अमद' कहलाता है । उस ब्रह्म को जानना सरल नहीं है, उसे कोई धीर पुरुष ही जान सकता है ।

समीक्षा—स्वामी शङ्कराचार्य इस श्रुति में जीवात्मा का वर्णन मानते हुए लिखते हैं—'करणानामुपशमः शयनम् ।—मन आदिगतिषु तदुपाधिकत्वात् दूरं व्रजतीव ।' अर्थात् इन्द्रियों के व्यापार-विरत होने को शयन कहते हैं और उपाधिक जीवात्मा मनादि की गतियों में दूर जाता सा मालूम पड़ता है । उनकी यह व्याख्या प्रसङ्गविरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती । इससे प्रथम तथा अगली श्रुतियों से यहां परमात्मा का ही वर्णन है और यमाचार्य की जो स्वाभिमानपूर्ण उक्ति है कि मेरे से दूसरा कौन जान सकता है, यह भी परमात्मा-विषयक ही है । क्योंकि जीवात्मा के विषय में इतनी भ्रान्ति भी नहीं है ।

पुनः ब्रह्म के निर्विशेष रूप का प्रकारान्तर से निरूपण करते हैं ।

अशरीरं शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥२॥२२॥

पदार्थ—वह ब्रह्म (अनवस्थेषु) अनित्य=स्थिर न रहने वाले मनुष्यादि के अथवा कार्यपदार्थों के (शरीरेषु) नश्वर शरीरों में (अशरीरम्) स्वयं स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण सर्वविध शरीरों से रहित होकर (अवस्थितम्) व्यापक होकर व्याप्य पदार्थों में स्थित हो रहा है, उस (महान्तम्) सब से बड़े अनन्त (विभुम्) सर्वव्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न, शोचति) शोकाकुल नहीं होता ।

भावार्थ—महर्षि दयानन्द ने शरीरों के भेद बताते हुए लिखा है—“तीन शरीर हैं—एक स्थूल, जो यह दीखता है । दूसरा पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि इन सत्तरह तत्त्वों का समुदाय 'सूक्ष्मशरीर' कहाता है । तीसरा कारण, जिसमें सुषुप्ति अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है । वह प्रकृतिरूप होने से सर्वत्र विभु और जीवों के लिए एक है । चौथा-तुरीय शरीर वह कहाता है, जिसमें समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न जीव होते हैं ।” (सत्यार्थ० नवमसमुल्लास)

वह परब्रह्म इन सभी प्रकार के शरीरों से रहित है । वेद में इसलिए उसे 'अकायमव्रणम्' (यजु० ४०।८) शरीररहित कहा है । वह

निराकार सब प्राणियों के शरीरों में व्यापक है । जिसे उपनिषत्कार ने 'एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा' (कठो० ५।१२) सब प्राणियों का अन्तरात्मा कहा है । उसका 'आत्मा' नाम भी व्याप्त होने से ही प्रसिद्ध हुआ है। जैसा कि निरुक्तकार ने स्पष्ट लिखा है—अततेर्वाप्तेर्वा' (निरुक्ते) और वह परब्रह्म कूटस्थ नित्य है, उसमें किसी प्रकार का परिणाम नहीं होता। किन्तु वह सांसारिक सभी परिणामी पदार्थों में व्यापक-व्याप्य सम्बन्ध से स्थित है । उसी को जानने से शोकादि दुःखों की निवृत्ति होती है ।

समीक्षा—इस श्रुति में स्पष्ट रूप से परमात्मा के औपाधिक शरीरादि का सर्वथा निषेध किया है । और नवीन वेदान्ती इसका यह अर्थ करते हैं कि जब जीव अपने को ब्रह्म समझ लेता है, उस समय का इसमें वर्णन है । यह उनकी मिथ्या मान्यता है । इस में स्पष्टरूप से ज्ञाता व ज्ञेय को भिन्न-भिन्न बताया है । श्री शङ्कराचार्य का इस श्रुति के भाष्य में 'आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम् । आत्मशब्दः प्रत्यात्मविषय एव मुख्यः' । अर्थात् आत्माशब्द अभिन्नता को बताने के लिए है । और आत्मा-शब्द से जीवात्मा का ही मुख्यरूप से ग्रहण होता है । इस कथन का अगली श्रुति से ही खण्डन हो रहा है—'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः'। यहां आत्मा-शब्द परमात्मा के लिए ही आया है ।

अब यमाचार्य परब्रह्म की प्राप्ति के उपाय का कथन करते हैं—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूथंस्वाम् ॥२।२३॥

पदार्थ—(अयम्) यह पूर्वोक्त (आत्मा) सर्वत्र व्यापक परब्रह्म (प्रवचनेन) अध्यापन वा उपदेश से (न, लभ्यः) प्राप्त होने योग्य नहीं है (न, मेधया^१) शास्त्र के अर्थों को धारण करने वाली बुद्धि से प्राप्त नहीं होता (न, बहुना, श्रुतेन) बहुत शास्त्रों को पढ़ने तथा शास्त्रसम्बन्धी उपदेशों को सुनने से भी प्राप्त नहीं होता । फिर ब्रह्म की प्राप्ति कैसे होती है ? उसका उपाय बताते हैं—(एषः) यह परब्रह्म (यम्, एव) जिस

१. मेधा=मतौ धीयते। (निरु० ३।१९) मेधु सङ्गमे (भ्वा०) मेधा आशुग्रहणे (कण्ड्वा०) धातोर्वा 'अङ्' प्रत्यये स्त्रियां टापि रूपम्। मेधया धारणावत्या बुद्ध्या (ऋ० भू० १४९) यथार्थ धारणावाली बुद्धि को ।

(आर्याभिविनय० २।५३)

उपासक को ही (वृणुते) अनुग्रह करके स्वीकार करता है (तेन) उस योग्याधिकारी पुरुष से वह ब्रह्म (लभ्यः) प्राप्त करने योग्य है (एषः, आत्मा) यह व्यापक परब्रह्म (तस्य) उस योगसाधना सम्पन्न पुरुष के लिए (स्वाम्) अपने (तनूम्^१) आत्मस्वरूप अथवा व्यापकज्ञान को (वृणुते) सत्प्रेरणादि से प्रकाशित कर देता है ।

भावार्थ—सर्वज्ञ, अनन्त, सर्वान्तर्यामी, सूक्ष्मातिसूक्ष्मादि विशेषताओं से सम्पन्न परब्रह्म केवल पठन-पाठन तथा श्रवण-श्रावण (सुनने-सुनाने) से नहीं जाना जाता । और वेदादि शास्त्रों को सुनते-सुनते बहुश्रुत=अनुभवी विद्वान् हो गए हैं, वे भी परब्रह्म की प्राप्ति के योग्याधिकारी नहीं हो सकते । क्योंकि जब तक शमदमादि साधनों को अपनाकर योगाङ्गों के अनुष्ठान से अपनी बाह्य तथा आन्तरिक अशुद्धि का क्षय नहीं कर पाते, तब तक हमारा शाब्दिक-ज्ञान अपूर्ण ही रहता है । जैसे कोई किसी से सन्मार्ग का पता पूछकर उस मार्ग पर चलता नहीं तो उसे लक्ष्य-प्राप्ति नहीं हो सकती, वैसे ब्रह्म-प्राप्ति के लिए सत्य-ज्ञान, प्रवचनादि भी आवश्यक हैं किन्तु इनकी पूर्णता अन्तःकरण की शुद्धि तथा ईश्वरानुग्रह के विना सम्भव नहीं है । योगदर्शनकार ब्रह्मप्राप्ति की योग्यता का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

सत्त्वशुद्धिः सौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥

(यो० २।४१)

इसकी व्याख्या में योगिराज महर्षि दयानन्द लिखते हैं—

“शौच से अन्तःकरण की शुद्धि, मन की प्रसन्नता और एकाग्रता इन्द्रियों का जय तथा आत्मा के देखने अर्थात् जानने की योग्यता प्राप्त होती है ।”

(ऋ० भू० उपासनाविषयः)

और ब्रह्म की प्राप्ति के लिए ब्रह्म का अनुग्रह प्राप्त करना भी अत्यावश्यक है । महर्षि लिखते हैं—

“पूर्वोक्त स्वाध्याय से इष्ट देवता अर्थात् परमात्मा के साथ सम्प्रयोग अर्थात् साझा होता है फिर **परमेश्वर के अनुग्रह का सहाय** अपने आत्मा की शुद्धि, सत्याचरण, पुरुषार्थ और प्रेम के सम्प्रयोग से

१. महर्षि-दयानन्दकृतभाष्ये—‘तनू’ पदस्यार्थाः—शरीरवद् विस्तारकम् (यजु० १५।७) विस्तृता व्याप्तिः (यजु० ५।६) विद्याविस्तृतिः (यजु० ५।४०) आत्मा वै तनुः ॥ (शत० ६।७।२।६)

जीव शीघ्र ही मुक्ति को प्राप्त होता है ।” (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

इसलिए विद्वान् ब्रह्म के उपासक को ब्रह्म के अनुग्रह=सहाय प्राप्त करने के लिए ज्ञान के साथ-साथ ज्ञान के अनुकूल सत्य-आचरण तथा अन्तःकरण की शुद्धि करना परमावश्यक है ।

समीक्षा—नवीन वेदान्त के प्रवर्तक स्वामी शङ्कराचार्य इस श्रुति से अपने आपको ब्रह्म मानने वाले का ही वर्णन मानते हुए लिखते हैं—

‘यमेव स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवात्मना वरित्रा स्वयमात्मा लभ्यो ज्ञायत ।’ अर्थात् जिस अपनी आत्मा की यह साधक प्रार्थना करता है, उस श्रेष्ठ के द्वारा आत्मप्राप्ति की जा सकती है ।

श्री शङ्कराचार्य का यह कथन मूल से विपरीत है । साधना करने वाला और उपास्य दोनों एक कभी नहीं हो सकते । क्या आत्मा अपने आप पर ही अनुग्रह करता है, तब अपने को जान पाता है । ऐसा भाव इस श्रुति से कदापि प्रकट नहीं होता । उपास्य-उपासक दोनों एक नहीं हो सकते । अन्यथा उपासना करना निरर्थक है । योगदर्शन में ‘ईश्वर-प्रणिधानाद्वा’ सूत्र में जीव-ब्रह्म को भिन्न-भिन्न मानते हुए भक्त पर ईश्वर का अनुकम्पित होना स्पष्ट रूप से कहा है । यहां श्रुति ‘वृणुते=वरण करता है । क्रिया से स्पष्ट है कि वरण करने वाला वरणीय से पृथक् है । इस क्रिया का ‘प्रार्थयते’ अर्थ मिथ्या तथा असङ्गत है और ‘यमेवैष वृणुते’ इस वाक्य में कर्त्ता तथा कर्म का पृथक् निर्देश होने से भी शङ्कराचार्य की मान्यता का स्पष्ट खण्डन हो रहा है ।

पूर्व श्लोक में ब्रह्म-प्राप्ति में ब्रह्म की अनुकम्पा पर विशेष बल दिया गया है । ब्रह्म का अनुग्रह=सहाय पाने का योग्याधिकारी कब बन सकता है ? उसके साधनों का अब कथन करते हैं—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।

नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात् ॥२॥२४॥

पदार्थ—जो मनुष्य (दुश्चरिताद्) वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध पाप-कर्मों से (अविरतः) पृथक् नहीं है, वह (न एनम् आप्नुयात्) ब्रह्म को प्राप्त नहीं करता (अशान्तः) जिसने अपनी इन्द्रियों तथा मन को संयम करके शान्त नहीं किया है, वह (न, एनम्, आप्नुयात्) ब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता (असमाहितः) जिसने समाधि के द्वारा इन्द्रियों की

वृत्ति को ब्रह्म की तरफ नहीं लगाया है, वह चञ्चलवृत्ति पुरुष (न एनम्, आप्नुयात्) इस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता (वा) और (अशान्तमानसः, अपि) जो वित्तैषणादि लोभादि वृत्तियों में आसक्त है, वह अशान्त-मन वाला भी (प्रज्ञानेन^१) वेदादि को पढ़कर प्राप्त किए यथार्थ ज्ञान से अथवा शास्त्रों के अर्थों को धारण करने वाली बुद्धि से (एनम्) इस ब्रह्म को (न, आप्नुयात्) प्राप्त नहीं कर सकता ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक की अपने ग्रन्थों में दो स्थानों पर व्याख्या की है । वह इस प्रकार है—

(क) “(नाविरतो०) जब तक मनुष्य दुष्टकामों से अलग होकर अपने मन को शान्त और आत्मा को पुरुषार्थी नहीं करता तथा भीतर के व्यवहारों को शुद्ध नहीं करता, तब तक कितना ही पढ़े व सुने उसको परमेश्वर की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती।” (ऋ० भू० उपासना० १७९ पृ०)

(ख) जो दुराचार से पृथक् नहीं, जिसको शान्ति नहीं, जिसका आत्मा योगी नहीं और जिसका मन शान्त नहीं है । वह संन्यास लेके भी प्रज्ञान से परमात्मा को प्राप्त नहीं होता ।” (सत्यार्थ० पञ्चमसमु० १२६ पृ०)

भावार्थ—वेदादि सत्यशास्त्रों के पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वान् पुरुषों को भी ब्रह्म की प्राप्ति के लिए योगी बनना अत्यावश्यक है । इस श्लोक में अविद्या को नाश करने वाले यथार्थज्ञान से भिन्न ब्रह्म-प्राप्ति के चार उपायों का वर्णन किया है—

१. पाप-कर्मों (शास्त्रप्रतिषिद्ध हिंसा, चोरी, मिथ्याभाषणादि से निवृत्ति ।)

२. इन्द्रियों तथा मन की वृत्तियों को विषयों में आसक्त न होने देना ।

३. इन्द्रियों और मन की वृत्तियों को बाह्यविषयों से रोककर समाहित होना, अर्थात् ब्रह्म की ओर एकाग्र करना ।

४. लोभ, मोह, राग, द्वेषादि मलों से छूटकर मन को शान्त रखना अर्थात् अर्थ व काम में आसक्त न होना ।

अब दुष्कर्म-रत पुरुष को परब्रह्म की विविध शक्तियों का भयप्रदरूप दिखाने के लिए उसे परब्रह्म में विश्वास से दुष्कर्मों से मुक्त

१. प्रज्ञानम्=प्रजानाति येन तद् बुद्धिस्वरूपम् ।

(यजु० ३४।३ महर्षिदयानन्दभाष्यम्)

कराने के लिए यमाचार्य कहते हैं—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनम् ।

मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥२।२५॥

पदार्थ—(यस्य) जिस ब्रह्म की (ब्रह्म^१) वेद-ज्ञान की शक्ति (च) और क्षत्रम्^२) क्षात्र-शक्ति (उभे) दोनों (ओदनम्) प्रलय समय में उदरस्थ अन्न की तरह लीन (भवतः) हो जाती हैं । (च) और (यस्य) जिस ब्रह्म का (मृत्युः^३) भयप्रद मृत्यु भी (उपसेचनम्) ओदन (भात) पर घृतादि के सेचन के तुल्य भक्ष्य हो जाता है (वह) परब्रह्म (यत्र) जिस स्वरूप में है, उसको (इत्थम्) वह इसी प्रकार का है, ऐसा निश्चय करके (कः) कौन पुरुष (वेद) पूर्णतया जान सकता है ?

भावार्थ—वह ब्रह्म इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति या प्रलय करने वाला है । वह ही इसका पालन कर रहा है । उस ब्रह्म की ही ज्ञानशक्ति, क्षात्रशक्ति तथा संहार-शक्ति, ये तीनों शक्तियां संसार में कार्य कर रही हैं । वह इस जगत् का नियन्ता है, उसके समस्त नियम अटल हैं । जो उसकी आज्ञा का उल्लङ्घन करता है वह मृत्यु-दुःख से नहीं बच सकता और उसकी शरण में आकर उसके आज्ञा के अनुसार चलता है, वह मोक्षादि सुखों को प्राप्त करता है । वेद में इस विषय में स्पष्ट कहा है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।

यस्य च्छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(यजु० २५।१३)

अर्थात् जो आत्मज्ञान का देनेवाला और शरीरादि के बलों का दाता है, जिसकी उपासना तथा आज्ञा का पालन सभी देव करते हैं, जिसका आश्रय ही मोक्ष-सुख को देने वाला है और जिसको न मानना ही मृत्यु-दुःख का हेतु है । हम उस समस्त ज्ञान व बल के दाता,

१. ओजः क्षत्रं वीर्यं राजन्यः । (ऐत० ८।२, ३।४)

प्राणो हि वै क्षत्रम् । (शत० १४।८।१४।४) क्षत्रं हि राष्ट्रम् । (ऐ० ७।२२)

२. ब्रह्म वेदचतुष्टयम् । (यजु० १९।४१ महर्षिभाष्य)

वाग् ब्रह्म । (गो० पू० २।१०)

३. एष वै मृत्युर्यत् संवत्सरः ॥ (शत० १०।४।३।१)

मृत्युः=ईश्वराज्ञाभङ्गः। (यजु० २५।१३) (महर्षिभाष्येऽन्वये)

सुखस्वरूप देव की अन्तःकरण से भक्ति करें अर्थात् उसकी आज्ञा-पालन में तत्पर रहें ।

इस श्लोक में यमाचार्य ने यही बात समझाते हुए कहा है कि दुराचरण से छुटकारा ब्रह्म की भक्ति के विना कदापि सम्भव नहीं है, और दुष्कर्मरत पुरुष ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । अतः उस ब्रह्म की ज्ञानशक्ति का बोध जगत् की रचना को देखकर तथा वेदों को पढ़कर करना चाहिए । उसकी क्षात्र-शक्ति का बोध समस्त ब्रह्माण्ड के सञ्चालन तथा नियमित रूप को देखकर किया जा सकता है । क्योंकि वायु में जो प्रबलवेग है, सूर्यादि में जो प्रकाश है, अग्नि में जो दाहक गुण है और जल में जो गति है, वह सब ब्रह्म-प्रदत्त ही है । इसलिए ये दोनों शक्तियां जगत् में ओदन=मिश्रित होकर कार्य कर रही हैं । और प्रलय काल में वह अपनी मृत्युः=संहारक शक्ति के द्वारा समस्त जगत् को नष्टकर अपने कारण में लीन कर देता है । इसीलिए परमात्मा का नाम 'अत्ता' है । इसकी व्याख्या करते हुए वेदान्तदर्शन में कहा है—अत्ता चराचरग्रहणात् । (वेदा० १।२।९) महर्षि दयानन्द इसकी व्याख्या में लिखते हैं—'जो सब को भीतर रखने सब को ग्रहण करने योग्य चराचर जगत् का ग्रहण करने वाला है, इससे ईश्वर के 'अन्न' 'अन्नाद' और 'अत्ता' नाम हैं ।.....जैसे गूलर के फल में कृमि उत्पन्न होके उसी में रहते और नष्ट हो जाते हैं, वैसे परमेश्वर के बीच में सब जगत् की अवस्था है ।" (सत्यार्थ० प्रथम०)

ऐसे चराचर जगत् कालरूप परमात्मा को न मानकर जो नास्तिकभाव को प्राप्त है, वह ईश्वर से विमुख व्यक्ति जन्म-मरण रूप दुःखसागर में ही गोते खाता रहता है । जगत् में भी उसकी विनाशलीलाएं भयंकर भूकम्पों, जलप्लावनों तथा महामारियों के समय देखी जा सकती हैं । यही मृत्यु का उपसेचन रूप है । ऐसी भयप्रद व दुःखद दशा में नास्तिक से नास्तिक पुरुष भी ब्रह्म की सत्ता व शक्ति स्वीकार करने लगता है । ऐसे आश्चर्यस्वरूप अनन्त ब्रह्म का पूर्णतः बोध अल्पज्ञ व अल्पसामर्थ्यवाला जीवात्मा कैसे कर सकता है ?

इति कठोपनिषद्-भाष्ये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥



अथ कठोपनिषद्-भाष्ये तृतीया वल्ली

यमाचार्य ने नचिकेता को द्वितीय-वल्ली में ब्रह्म का उपदेश किया है । किन्तु नचिकेता का प्रश्न तो जीवात्मा-विषयक था । ब्रह्म के ज्ञान के विना आत्मा का ज्ञान भी सम्भव नहीं था, अतः प्रथम ब्रह्म के विषय में उपदेश करके अब जीवात्मा तथा परमात्मा के भेद का कथन करते हैं—

**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥३।१॥**

पदार्थ—(परमे) सर्वोत्तम (परार्द्धे) परब्रह्म की प्राप्ति के मुख्य स्थान ऋद्धियुक्त=परब्रह्म के ऐश्वर्य व आनन्द को देने वाले हृदयावकाश में (गुहाम्) हृदय रूपी गुप्त स्थान में (प्रविष्टौ) प्रवेश-अनुप्रवेश रूप में स्थित (सुकृतस्य) शुभ कर्म करने के साधन भूत (लोके) इस प्रत्यक्ष मनुष्य शरीर में (ऋतम्^१) सत्य विज्ञान का (पिबन्तौ) सेवन करते हुए, (छायाऽऽतपौ) छाया और धूप के समान अल्पज्ञ और सर्वज्ञ भेद से दोनों विलक्षण हैं, ऐसा (ब्रह्मविदः) ब्रह्म को जानने वाले विद्वान् मनुष्य (वदन्ति) कहते हैं (च) और (ये) जो (त्रिणाचिकेताः^२) तीन बार नाचिकेताग्नि का चयन अर्थात् यज्ञ कर चुके हैं, ऐसे कर्मकाण्डी तथा (पञ्चाग्नयः^३) पञ्चमहायज्ञों अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ और बलिवैश्वदेवयज्ञों को विधिवत् करने वाले गृहस्थ लोग जीव-ब्रह्म की भिन्नता को कहते हैं ।

भावार्थ—यद्यपि महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की व्याख्या अपने ग्रन्थों में नहीं की है, किन्तु इस में किस विषय का वर्णन है, यह

१. ब्रह्म वाऽऋतम् ॥

श० ४।१।४।१०॥

ऋतमिति सत्यनाम ॥

निर्घ० १।१२॥

ऋतस्य=सत्यस्य विज्ञानस्य ॥ ऋ० ७।७।६ महर्षिभाष्यम् ॥

२. आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि ये यज्ञ की तीन अग्नियाँ हैं ।

३. मनुस्मृति में गृहस्थ के लिए पञ्चमहायज्ञों को अपरिहार्य बताया है—
ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।

नृयज्ञं पितृयज्ञं च यथाशक्ति न हापयेत् ॥ (मनु० ४।२१)

यह ही पञ्चाग्नितप है ॥

बताते हुए महर्षि लिखते हैं—

“गुहां प्रविष्टौ सुकृतस्य लोके” इत्यादि उपनिषदों के वचनों से जीव और परमात्मा भिन्न हैं । वैसा ही उपनिषदों में बहुत ठिकाने दिखलाया है ।” (सत्यार्थ० एकादश समु०)

इस श्लोक में जीव-ब्रह्म के साधर्म्य तथा वैधर्म्य का वर्णन करके दोनों को भिन्न-भिन्न माना है । जीव-ब्रह्म दोनों ही सत्य-विज्ञान का सेवन करते हैं । परब्रह्म सर्वज्ञ तथा वेद-ज्ञान का उपदेष्टा है तथा जीवात्मा के “इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गानि ।” (न्याय०) के अनुसार ज्ञानादि गुण हैं । दोनों ज्ञान का सेवन करते हुए भी छाया-आतप अर्थात् अल्पज्ञ-सर्वज्ञ भाव से भिन्न-भिन्न हैं । जीवात्मा अल्पज्ञ और परमात्मा सर्वज्ञ है । दोनों का उपास्य-उपासक व व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है । परमात्मा अतिसूक्ष्म होने से जीवात्मा के अन्दर भी व्याप्त है, इसलिए कहा गया है—‘यस्यात्मा, शरीरम्’ (बृहदा०) अर्थात् यह आत्मा परमात्मा का शरीर है^१ । और क्योंकि जीवात्मा का स्थान हृदय है, अतः दोनों का मिलन वहीं होता है, अन्यत्र कदापि मिलन सम्भव नहीं है । योगदर्शन में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है—

हृदये चित्तसंवित् ॥

(योग० ३।३४)

यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म तत्र विज्ञानम् ।
तस्मिन् संयमात् चित्तसंवित् ॥ (व्यासभा०)

अर्थात् इस शरीर में जो हृदय में कमलाकार वेश्म=घर=स्थान है, वहां संयम करने से चित्तादि सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान होता है ।

छान्दोग्योपनिषद् में भी कहा है—“अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यमिति ।” (छा० प्रपा० ८। मं० १)

इसकी व्याख्या में महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—“कण्ठ के नीचे

१. (क) जीव-ब्रह्म की भिन्नता मानते हुए ही ब्र० सू० १।२।११। में स्पष्ट रूप से कहा है—गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥

(ख) मुण्डकोपनिषद् में जीवात्मा को कर्मफल-भोक्ता और परमात्मा को कर्मों का साक्षी बताते हुए लिखा है—तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥” (मुण्डको० २।२।१)

(ग) यजुर्वेद में जीव-ब्रह्म का भेद बताते हुए लिखा है—

न तं विदाथ य इमा जजान युष्माकमन्यदन्तरा बभूव ॥

दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदयदेश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है ।”

(ऋ० भू० उपासनाविषयः)

मुण्डकोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन किया गया है—

हिरण्ये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् ।

तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः॥ (मुण्डको० २।२।९)

अर्थात् इस शरीर के अन्दर हृदय में एक गुप्त कोश=स्थान है, उसी में ब्रह्मवेत्ता योगी उस परम ज्योति ब्रह्म को प्राप्त करते हैं ।

समीक्षा—स्वामी शङ्कराचार्य ने इस श्लोक का इस प्रकार अर्थ किया है—

‘एवं च प्राप्त-प्राप्यगन्तु-गन्तव्याविवेकार्थरथरूपकद्वारा द्वावात्मा-नावुपन्यस्येते ऋतं=सत्यम् अवश्यम्भावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ, सुकृतस्य स्वयङ्कृतस्य कर्मणः, लोकेऽस्मिञ्छरीरे, गुहां=गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ, परमे परार्द्धे परस्य ब्रह्मणोऽर्थं स्थानं परार्द्धं हार्दाकाशं तस्मिन् हि परं ब्रह्मोपलभ्यते, तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति। न केवलमकर्मिण एव वदन्ति, पञ्चाग्नयो गृहस्थाः ये च त्रिणाचिकेताः=त्रिः कृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ।’

अर्थ—प्राप्त करने वाला और प्राप्त करने योग्य, जानने वाला और जानने योग्य के भेद से यहां दो आत्माओं का वर्णन है, जिसे अविवेकियों के लिए रथ के रूपक से समझाया गया है । ये दोनों अवश्यम्भावी कर्म-फलों का सेवन करते हैं और अपने किए कर्म का । और इस शरीर में बुद्धि में प्रविष्ट हैं । परब्रह्म की प्राप्ति हृदयस्थाकाश में होती है । ये दोनों जीवात्मा और परमात्मा छाया और धूप की भांति विलक्षण हैं । इस प्रकार ब्रह्मवेत्ता, गृहस्थी तथा कर्मकाण्डी जन कहते हैं ।

समीक्षा—इस श्लोक में जीवात्मा व परमात्मा के भेद का स्पष्ट उल्लेख स्वामी शङ्कर को भी मानना पड़ा है । इससे उनके अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप से खण्डन हो जाता है । जीव-ब्रह्म के भेद का वर्णन यहां

छाया धूप की भांति विलक्षण बताया है, उससे भी अद्वैतवाद का खण्डन होता है। क्योंकि जैसे छाया व धूप एक दूसरे से भिन्न तथा विलक्षण हैं, वैसे ही जीवात्मा अल्पज्ञ एकदेशी आदि गुणों वाला होने से और परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वत्र व्यापक, अनन्तादि गुणों वाला होने से दोनों ही विलक्षण हैं। और जीव को परब्रह्म की प्राप्ति हृदयस्थाकाश में ही होती है। इस वर्णन से स्पष्ट है कि जो लोग परब्रह्म के नाम पर मूर्ति आदि में ध्यान की बात कहते हैं, वह सब मिथ्या ही है।

इसके साथ ही स्वामी शङ्कर की यह बात मिथ्या है कि—“जीव-ब्रह्म दोनों ही कर्म-फल का भोग करते हैं। उनकी यह मान्यता वेदादिशास्त्रों से सर्वथा विपरीत है। ऋग्वेद में तो ब्रह्म के लिए स्पष्ट कहा है—‘अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति’ अर्थात् ब्रह्म केवल साक्षी मात्र ही होता है, भोक्ता नहीं यद्यपि शङ्कराचार्य ने आगे ‘एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरः’ अर्थात् एक जीवात्मा कर्म-फल भोगता है, दूसरा नहीं।” यह भी लिखकर अपनी व्याख्या का ही प्रतिवाद आगे कर दिया है, परन्तु उन्होंने यह नहीं सोचा कि ‘ऋतं’ पिबन्तौ’ की व्याख्या की क्या गति होगी? यथार्थ में यहां ‘ऋतम्’ का ‘कर्मफलम्’ अर्थ ही सङ्गत नहीं है। यहां ‘ऋतम्=सत्यविज्ञान’ ही अर्थ करना चाहिए। क्योंकि दोनों जीव-ब्रह्म सत्यविज्ञान का सेवन करते हैं। स्वामी-शङ्कर की दूसरी भूल यह है कि उन्होंने ब्रह्मवेत्ताओं को अकर्मी तथा गृहस्थियों को कर्म करने वाले माना है। कर्म के विना तो संसार में कोई भी प्राणी कदापि नहीं रह सकता। वेद में स्पष्ट रूप से कहा है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतः समाः ॥ (यजु०)

अर्थात् मनुष्य यावज्जीवन कर्म करता हुआ ही जीने की इच्छा करे। शङ्कर स्वामी के ऐसे अवैदिक वचनों का ही आश्रय करके अपने को ब्रह्म मानने वाले अद्वैतवादी साधु अपने कर्तव्यों को भी छोड़ बैठे हैं। और संसार का कोई उपकार न करके गृहस्थियों पर भरण-पोषण के लिए भार ही बने रहते हैं। धर्म-प्रचार के कार्यों में इसलिए कोई रुचि नहीं लेते कि हमारे लिए तो कोई कर्तव्य-कर्म शेष नहीं रहा है। यह उनकी संन्यास-धर्म के विरुद्ध मान्यता है।

जीवात्मा और परमात्मा के भेद का प्रतिपादन करके और दोनों का ज्ञान आवश्यक बताते हुए यमाचार्य कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड दोनों को

ईश्वर-प्राप्ति में साधन कथन करते हैं—

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम् ।

अभयं तितीर्षताम्पारं नाचिकेतः शकेमहि ॥३।२॥

पदार्थ—(यः) जो (ईजानानाम्) अग्निहोत्रादि यज्ञों को करने वालों का (सेतुः) पुल के समान है, उस (नाचिकेतम्^१) यज्ञविद्या को अथवा ज्ञान गुण वाले जीवात्मा को (शकेमहि) जानने में समर्थ हो सके और (यत्) जो (पारम्) दुःखादि बन्धनों से सदा मुक्त है तथा (तितीर्षताम्) संसार-सागर को तरने की इच्छा वालों के लिए (अभयम्) भयरहित (अक्षरम्) अविनश्वर या सर्वव्यापक (परम्) सर्वोत्तम (ब्रह्म) परमात्मा है, उसको भी (शकेमहि) हम जान सकें ।

भावार्थ—संसार-सागर को पार करने के लिए यहां दो साधन कहे हैं—कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्ड । ज्ञान के बिना यज्ञादिकर्म नहीं किए जा सकते और नहीं परमात्मा का ज्ञान हो सकता है । जो ज्ञान अथवा कर्म किसी एक पर ही अधिक बल देते हैं, वे दोनों ही अपूर्ण हैं । जैसे रथ दो चक्रों से चलता है । दो चक्रों का अपना-अपना महत्त्व है, वैसे ही ज्ञान-तथा कर्म दोनों की जीवों को आवश्यकता है । ज्ञान के बिना कर्म करना अन्धे के समान और कर्म के बिना ज्ञान प्राप्त करना पड़गु के समान अधूरा है । यजुर्वेद में इस विषय में बहुत ही स्पष्ट कहा है—

अविद्याया मृत्युं तीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥ (य० ४०।१४)

इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—“अविद्या अर्थात् कर्मोपासना से मृत्यु को तरके विद्या अर्थात् यथार्थ ज्ञान से मोक्ष को प्राप्त करता है ।” (सत्यार्थ० ९ समु०)

यहां यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों तथा आत्मा-परमात्मा के ज्ञान को सेतु=पुल के समान बताया है । जैसे तीव्र तथा गम्भीर प्रवाह वाली नदी को भी मनुष्य पुल के द्वारा सरलता से पार कर जाता है, वैसे ही ज्ञानकाण्ड तथा कर्मकाण्ड रूप पुल से सामान्य मनुष्य भी संसार-सागर को पार करके मोक्ष का अधिकारी बन सकता है ।

महर्षि-दयानन्दकृत कर्मकाण्ड की व्याख्या—“उनमें से दूसरा कर्मकाण्ड विषय है सो सब क्रियाप्रधान ही होता है, जिसके बिना

१. नाचिकेतम्=चिकेतं ज्ञानं तद्ग्रहितं वस्तु अचिकेतं जडम् । तद्ग्रहितं नाचिकेतम्=ज्ञानगुणं जीवात्मानम् । छान्दसत्वान्नजो नलोपः न ।

विद्याभ्यास और ज्ञान पूर्ण नहीं हो सकते । क्योंकि मन का योग बाहर की क्रिया और भीतर के व्यवहार में सदा रहता है । वह अनेक प्रकार का है, परन्तु उसके दो भेद मुख्य हैं—एक परमार्थ, दूसरा लोकव्यवहार अर्थात् पहले से परमार्थ और दूसरे से लोकव्यवहार की सिद्धि करनी होती है । प्रथम जो परम पुरुषार्थ रूप कहा, उसमें परमेश्वर की (स्तुति) अर्थात् उसके सर्वशक्तिमत्त्वादिगुणों का कीर्तन, उपदेश और श्रवण करना, (प्रार्थना) अर्थात् जिस करके ईश्वर से सहायता की इच्छा करनी (उपासना) अर्थात् ईश्वर के स्वरूप में मग्न होके उसकी सत्यभाषणादि आज्ञा का यथावत् पालन करना, सो उपासना वेद और पातञ्जल योगशास्त्र की रीति से ही करनी चाहिए तथा धर्म का स्वरूप न्यायाचरण है । न्यायाचरण उसको कहते हैं जो पक्षपात को छोड़ के सब प्रकार से सत्य का ग्रहण और असत्य का परित्याग करना, इसी धर्म का जो ज्ञान और अनुष्ठान का यथावत् करना है, सो ही कर्मकाण्ड का प्रधान भाग है और दूसरा यह है कि जिससे पूर्वोक्त अर्थ, काम और उनकी सिद्धि करने वाले साधनों की प्राप्ति होती है । “.....सो अग्निहोत्र से लेके अश्वमेध पर्यन्त जो कर्मकाण्ड है ।”

“सर्वत्र कर्मकाण्ड में भी इष्ट भोग की प्राप्ति के लिए परमेश्वर का त्याग नहीं होता है, क्योंकि कार्य-कारण सम्बन्ध से ईश्वर ही सर्वत्र स्तुति, प्रार्थना, उपासना से पूजा करने योग्य होता है ।”

(ऋ० भू० वेदविषयविचारः)

महर्षि की कर्मकाण्ड की इस व्याख्या से स्पष्ट है लौकिक तथा पारमार्थिक सिद्धि के लिए जो भी ईश्वरोपासना तथा यज्ञादि कर्मों का करना है, वह सब कर्मकाण्ड के ही अन्तर्गत है । और वह भी ज्ञानकाण्ड की भांति मुमुक्षुजनों के लिए परमावश्यक है ।

जीव-ब्रह्म का भेद और दोनों का ज्ञान आवश्यक बताकर रथ रूपक द्वारा यमाचार्य जीवात्मा को शरीरादि से पृथक् बताते हुए कहते हैं—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥३॥

पदार्थ—हे नचिकेता ! तुम (आत्मानम्) जीवात्मा को (रथिनम्) इस शरीररूपी रथ का स्वामी (विद्धि) जानो (तु) और (शरीरम्) शरीर

को (एव) ही (रथम्^१) रथ जानो (तु) और (बुद्धिम्) अन्तःकरण की निश्चयात्मक वृत्ति को (सारथिम्) शरीर रूपी रथ को हांकने वाला (च) और (मनः) सङ्कल्प-विकल्प करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति को (एव) ही (प्रग्रहम्) लगाम की रस्सी (विद्धि) जानो ।

भावार्थ—इस श्रुति में जीवात्मा का शरीर के साथ क्या सम्बन्ध है और वह इस शरीर से कैसे कार्य लेता है, इस तथ्य को एक आलङ्कारिक भाषा में समझाया गया है । जैसे रथ से एक निश्चित स्थान पर पहुँचा जाता है, वैसे ही जीवात्मा इस शरीर के द्वारा लौकिक सुखों को भोगता हुआ धर्मार्थकाममोक्ष रूप पुरुषार्थचतुष्टय की सिद्धि करता है। शरीर को रथ कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर भोगायतन=भोग करने का आधार है । शरीर के बिना जीवात्मा सुखों का भोग नहीं कर सकता है । और रथ की उपमा से यह भी स्पष्ट है कि यह शरीर रमण करने का अर्थात् सांसारिक सुखों को भोगने का साधन है । जो व्यक्ति इन लौकिक सुखों को हेय समझते हैं, उनको उपनिषत्कार की इस उपमा पर ध्यान देना चाहिए । किन्तु लौकिक सुखों में आसक्त नहीं होना चाहिए । वेद में भी ‘तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः (यजु०) कहकर त्याग भाव से भोगने का उपदेश किया है । जीवात्मा की शारीरिक क्रियाओं को अन्यत्र समझाते हुए लिखा है—

आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया॥ (वर्णोच्चारणशिक्षा)
अर्थात् जीवात्मा प्रथम बुद्धि से निश्चय करके मन को प्रेरित करता और मन का सम्बन्ध होने पर बाह्येन्द्रियां कार्य करती हैं । अन्यथा यह स्पष्ट देखा जाता है कि मन के सम्पर्क के अभाव में हम देखते हुए भी नहीं देखते और सुनते हुए भी नहीं सुनते । अतः जीवात्मा का बुद्धि सारथी तथा मन प्रग्रह=लगाम के समान यहां बताया है, जो कि उपयुक्त उपमा दी है ।

१. शरीर को ‘रथ’ की उपमा विशेष प्रयोजन से दी गई है । क्योंकि सब प्राणियों में मानव का शरीर ही ज्ञानप्राप्ति तथा सुख भोगने का उत्तम अद्वितीय साधन है । निरुक्त में रथ का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—“रथः=रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रयतेर्वा रसतेर्वा ।” (निरुक्ते ९।११) महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य में इसका अर्थ इस प्रकार किया है । रयते जानाति येन स रथः। (य० ३।३६) रमणसाधनं यानम् ॥ (ऋ० १।११२।२) ।

(ऋ० १।१६४।२५ महर्षिभाष्ये)

ही सुख दुःख का भोग करता है । यहां जीवात्मा को स्पष्ट रूप से भोक्ता कहा गया है । जो विद्वान् आत्मा को भोक्ता न मानकर बुद्धि को भोक्ता मानते हैं, उनका मत इससे खण्डित हो रहा है । 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्, (तैत्तिरी०) में भी जीवात्मा को भोक्ता माना है । न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि लिखते हैं—'तत्रात्मा सर्वस्य द्रष्टा भोक्ता'.....भोगायतनं शरीरं भोगसाधनानि इन्द्रियाणि' । (न्याय० १।१।९ भाष्ये) अर्थात् जीवात्मा भोग करने वाला है, शरीर भोग करने का आश्रय है और इन्द्रियां भोग के साधन हैं। ऋग्वेद और मुण्डकोपनिषद् में कहा है—तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।' अर्थात् जीवात्मा प्रकृति के सुखों को भोगता है और परमात्मा भोगता नहीं । बस जीवों के पुण्यापुण्य कर्मों का साक्षिमात्र रहता है अतः जीवात्मा को भोक्ता न मानना और ईश्वर को भोक्ता मानकर उसे भोग लगाना, दोनों ही मान्यताएं असत्य हैं ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में भी स्वामी-शङ्कर ने लिखा है—'न हि केवलस्यात्मनो भोक्तृत्वमस्ति, बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम्' अर्थात् केवल जीवात्मा भोक्ता नहीं है, किन्तु बुद्धि आदि उपाधिकृत ही जीवात्मा का भोक्तृत्व है । यह उनका कथन युक्ति तथा शास्त्र से विरुद्ध है कि जीवात्मा कर्मफल का भोक्ता नहीं है । जीवात्मा ही समस्त शारीरिक-व्यापार का कर्त्ता होने से कर्म-फलों को भोगता है। बुद्धि आदि तो जीवात्मा के करण हैं । जैसे कोई तलवार से किसी को मार देवे और यह कहे कि इसको तलवार ने मारा है, मैंने नहीं । जैसे उसका कथन मानने योग्य नहीं वैसे ही जीवात्मा को भोक्ता न मानकर बुद्धि को मानना सत्य नहीं है उपनिषद् के इस श्लोक में स्पष्ट कहा है कि जीवात्मा ही भोक्ता है किन्तु वह इन्द्रिय तथा मन के विना नहीं भोग कर सकता है । क्योंकि जीवात्मा के भोग का आश्रय (भोगायतन) शरीर तथा बुद्धि आदि करण हैं ।

जो आत्मा के ज्ञान से हीन है, उसकी दुर्दशा का वर्णन करते हुए यमाचार्य कहते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥३।५॥



पदार्थ—(तु) और (यः) जो पुरुष (अविज्ञानवान्^१) आत्मज्ञान से हीन होने से विषयों में फंसा होता है वह (अयुक्तेन^२) चित्तवृत्तियों के विरोध न करने वाले (मनसा) मन से (सदा) सदा (भवति) वर्तमान रहता है, (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) कर्णादि इन्द्रियां (सारथेः) रथ को चलाने वाले सारथी के (दुष्टाश्वा, इव) स्वेच्छाचारी असंयत घोड़ों की तरह (अवश्यानि) वश में नहीं रहती हैं ।

भावार्थ—मन की वृत्तियों के विषय में योग-सूत्रों के भाष्यकार महर्षि-व्यास लिखते हैं—‘चित्तनदीनामुभयतो वाहिनी वहति, कल्याणाय वहति पापाय च ।’ (यो० १।१२ भाष्यम्) अर्थात् चित्तरूप नदी की धाराएं दोनों तरफ (पाप या पुण्य) बहने वाली होती हैं । उनका पाप-मार्ग से निरोध करना परमावश्यक है। तदर्थ यमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से विवेकख्याति तथा ऋतम्भरा प्रज्ञा का प्राप्त करना परमावश्यक है ।

प्रस्तुत श्रुति में उदाहरण देकर यह बोध कराया है कि जैसे अशिक्षित तथा कुमार्गगामी दुष्ट घोड़ों से सारथी अभीष्ट स्थान पर कदापि पहुंच नहीं सकता, वैसे आत्मविज्ञान से हीन जीव की चित्तवृत्तियों के निरोध के बिना इन्द्रियरूपी घोड़े कदापि वश में नहीं हो सकते । क्योंकि विषयोन्मुख इन्द्रियों का निरोध करना सम्भव नहीं है । और जैसे घट में एक भी छिद्र जब तक है, तब तक उसका जलादि से भरना सम्भव नहीं है, वैसे ही एक भी इन्द्रिय अपने विषय की ओर जब तक भाग रही होती है तब तक मन की वृत्तियों का निरोध करना सम्भव नहीं है ।

अब आत्मज्ञानी संयमी पुरुष की दशा का वर्णन करते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति युक्तेन मनसा सदा ।

तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥३।६॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो पुरुष (विज्ञानवान्) आत्मा का ज्ञान

१. विज्ञान किसे कहते हैं ? इसका स्पष्टीकरण कठो० ३।६ के भावार्थ में महर्षि-दयानन्द के वचनों से किया गया है ।

२. अयुक्तेन=जिसने अपनी मन की वृत्तियों का निरोध कर लिया है, वह ‘युक्तमना’ कहलाता है । इससे विपरीत को यहां ‘अयुक्त’ कहा है ।

होने से विवेकशील होता है, वह (युक्तेन^१) अभ्यास और वैराग्य से निरुद्ध किए (मनसा) मन से (सदा) सदा (भवति) वर्तमान रहता है (तस्य) उसकी (इन्द्रियाणि) नेत्रादि इन्द्रियां (सारथेः) रथ-चालक के (सदश्वाः, इव) प्रशिक्षित घोड़ों की तरह (वश्यानि^२) वश में हो जाती हैं ।

भावार्थ—इस श्लोक में इन्द्रियों को वश में करने के दो साधन बताए हैं—विज्ञान और मन की वृत्तियों को रोकना । मन की वृत्तियों को रोकने को ही योगदर्शन में योग कहा है । विज्ञान क्या है ? इसको समझाते हुए महर्षि-दयानन्द लिखते हैं—“विज्ञान उसको कहते हैं कि जो कर्म, उपासना और ज्ञान इन तीनों से यथावत् उपयोग लेना और परमेश्वर से लेके तृण पर्यन्त पदार्थों का साक्षाद् बोध का होना, उनसे यथावत् उपयोग का करना।” (ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिकायां वेदविषयविचारः)

और बाह्येन्द्रियां मन के विना कार्य नहीं कर सकतीं । अतः मन की वृत्तियों के निरोधरूप योग से तथा विज्ञान से इन्द्रियां वश में हो जाती हैं ।

आत्मज्ञान से रहित असंयमी पुरुष की दशा का वर्णन करते हैं—

यस्त्वविज्ञानवान् भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।

न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥३॥७॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो मनुष्य (सदा) सदा (अशुचिः^३) अपवित्र=मिथ्याज्ञान तथा छलकपटादि दोषों से अशुद्ध (अमनस्कः) जिसका मन वश में नहीं है और (अविज्ञानवान्) आत्मज्ञान से रहित=विवेकशून्य (भवति) होता है (सः) वह शरीर रथ का संयमहीन स्वामी (तत्पदम्^४)

१. मन को युक्त करने का उपाय बताते हुए योगदर्शन में लिखा है—
अभ्यास-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ (योग० १।१२)

२. ‘वश्यानि’ पद में ‘वशं गतः’ (अ० ४।४।८६) सूत्र से वश प्राप्ति० से गतार्थ में यत् प्रत्यय है ।

३. अशुद्धि क्या है ? “पञ्चपर्वणो विपर्ययस्य=अशुद्धिरूपस्य” । (योग० २।२८ व्यास०) अर्थात् मुख्य अशुद्धि है—पांच अङ्गों वाली अविद्या। और इसके नाश का उपाय है—योग के आठों अङ्गों यमादि का विधिवत् अनुष्ठान ।

४. इस ‘पद’ का अर्थ स्थान कदापि नहीं है । क्योंकि परमात्मा तो सर्वत्र व्यापक है । यहां इसका अर्थ ‘प्रापणीय मोक्ष’ है । जैसे कि अन्यत्र कहा है—‘तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्।’ (कठ०) अर्थात् ‘ओम्’ की प्राप्ति ही परम पद है ।

उस ब्रह्म के प्रापणीय पद अर्थात् मोक्ष को (न, आप्नोति) नहीं प्राप्त करता है (च) और (संसारम्) जन्म-मरण के प्रवाह रूप दुःखसागर को (अधिगच्छति) प्राप्त करता है ।

भावार्थ—जैसे प्रशिक्षणादि ज्ञान के विना रथ-सारथी के घोड़े वश में न होने से रथ का स्वामी अपने अभीष्ट स्थान को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता और घोड़े रथ को भी गर्तादि कुमार्ग में डालकर क्षत-विक्षत कर देते हैं वैसे जो जीव विज्ञानहीन है, मन आदि इन्द्रियों को वश में न रखकर इन्द्रियों का दास बन जाता है तथा रागादिमलों से आभ्यन्तरिक, हिंसादि दोषों, मिथ्याहार अथवा मांस, मद्यादि अभक्ष्य खाने-पीने से बाह्य शुद्धि न रखने से मलीनात्मा है, वह संसार के आवागमन से कभी नहीं छूट सकता है । और उसे मोक्ष की प्राप्ति भी कदापि सम्भव नहीं है । ऐसा आत्मपराङ्मुख जीव बार-बार जन्म-मरण में रहने से शाश्वत-शान्ति तथा सुख को प्राप्त करने में सर्वथा असमर्थ रहता है ।

अब आत्मज्ञानी व संयमी पुरुष की गति का वर्णन करते हैं—

यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः ।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते ॥३८॥

पदार्थ—(तु) और (यः) जो पुरुष (सदा) सदा (शुचिः^१) राग-द्वेषादि मलों से रहित होने से पवित्रान्तःकरण वाला (समनस्कः) मन को वश में करने वाला और (विज्ञानवान्) आत्मज्ञानयुक्त होने से विवेकशील (भवति) होता है (सः) वह धीरपुरुष (तु) निश्चय से (तत्पदम्) उस प्रापणीय ब्रह्म के पद=मोक्ष को (आप्नोति) प्राप्त कर लेता है (यस्मात्) जिस पद=मोक्ष से (भूयः) फिर (न, जायते) जन्म-मरण रूप संसार में जन्म नहीं लेता ।

भावार्थ—प्रस्तुत श्रुति में भी परमात्मा के मोक्ष पद को प्राप्त करने का ही उपाय बताया गया है । इससे अगली श्रुति में इसका रथ के आलङ्कारिक वर्णन के द्वारा बोध कराया गया है । जैसे यात्रा के समय रथ

१. 'तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् ।
आभ्यन्तरञ्चित्तमलानामाक्षालनम् । (योग० २।३२ व्यासभाष्यम्)

अर्थात् शुद्धि दो प्रकार की होती है बाह्यशुद्धि—मिट्टी, जलादि तथा पवित्र आहारादि से होती है । और चित्त के रागद्वेषादि मलों के प्रक्षालन से आभ्यन्तर शुद्धि होती है ।'

के स्वामी के लिए रथ साधन है, वैसे हमें शरीररूपी रथ परमात्मा ने प्रदान किया है। जैसे रथ को ठीक तरह से निश्चित स्थान पर पहुंचाने के लिए कुशल सारथी, प्रशिक्षित घोड़े तथा लगामादि से घोड़ों का संयमन परमावश्यक होता है, वैसे ही विज्ञान=ऋतम्भरा प्रज्ञा इस शरीर रथ का सारथी है, इन्द्रियां घोड़े हैं, इनको योगसाधनादि से मन के द्वारा संयम करना तथा आभ्यन्तर तथा बाह्य शुद्धि करना ही मोक्ष-प्राप्ति में परमसहायक होता है।

इस श्रुति में जो 'भूयो न जायते' फिर जन्म नहीं लेता है, कहा है, इसका अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि मोक्ष को प्राप्त करने वाले जीव मोक्ष से वापस नहीं आते। यह मान्यता वेदादि शास्त्रों तथा युक्ति से विरुद्ध है। वेद में स्पष्ट कहा है—'स नो मद्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दूशेयं मातरं च।' (ऋ० १।२४।२) अर्थात् वह परमात्मा मुक्त जीवों को भी मोक्ष सुख की अवधि पूरी होने पर फिर माता-पिता का दर्शन कराता है। यहां 'भूयो न जायते' का अभिप्राय है कि मोक्ष की लम्बी अवधि के मध्य में जीव जन्म नहीं लेता। अन्यथा ससीम कर्मों का असीम फल देने से परमात्मा के न्याय में दोष आता है।

अब विवेकशील, संयमी तथा आत्मज्ञानी के ब्रह्मपद की प्राप्ति का कथन करते हैं—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनः प्रग्रहवान्नरः ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥३।९॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (तु) निश्चय से (विज्ञानसारथिः^१) सत् असत् का विवेक करने वाली बुद्धि जिसका सारथी है, (मनः प्रग्रहवान्^२) जिसने शरीररूपी रथ में मन को प्रग्रह=लगाम की रस्सी की तरह संयम में कर लिया है, वह (नरः) पुरुष (अध्वनः) जन्म-मरण रूप मार्ग से (पारम्) पार=पृथक् (विष्णोः^३) व्यापकब्रह्म के (परमम्)

१. विज्ञानम्=सम्यग्ज्ञानं विविधज्ञानं वा ॥ (य० २०।८ द० भा०)

२. 'रश्मौ च' अ० ३।३।५३ सूत्र से प्रपूर्वक ग्रह धातु से रश्मि=लगाम अर्थ में घञ् ।

३. 'विष्णु' परब्रह्म का ही नाम है। जैसे कि वेद में कहा है—“तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ॥ (ऋ० १।२२।२०)

महर्षि दयानन्द ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः ॥” (ऋ० १।२२।२०)

सर्वोत्कृष्ट (तत्, पदम्) उस इन्द्रियातीत मोक्ष पद को अथवा ब्रह्म के स्वरूप को (आप्नोति) प्राप्त हो जाता है वा जान लेता है ।

भावार्थ—मनुष्य का परमोद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है । और मानवयोनि को छोड़कर अन्य किसी योनि में मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि मानवेतर समस्त योनियां भोगयोनियां हैं । मानव को ही वे साधन सुलभ हैं, जिनसे वह मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है । प्रस्तुत श्रुति में मोक्ष प्राप्ति का प्रकार बताते हुए लिखा है कि जो अज्ञान को दूर करने वाली विज्ञान वाली बुद्धि को सारथी बनाकर सङ्कल्प-विकल्पात्मक रूप मन की वृत्तियों को, जो इन्द्रिय रूपी घोड़ों की लगाम के रूप में हैं, रोककर परमात्मा की भक्ति में लगाता है, वह जीव मोक्ष को प्राप्त कर लेता है । योगदर्शन में इसी तथ्य का स्पष्ट उल्लेख करते हुए लिखा है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’ ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।’ (योग० १।२-३) अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है और निरोध होने पर परमात्मा के स्वरूप में स्थिति हो जाती है ।

और विष्णु=व्यापक परमात्मा का नाम है वह किसी विष्णुलोकादि किसी स्थानविशेष में नहीं रहता । विष्णुलोक की कल्पना भ्रान्तिवश है। प्रस्तुत श्रुति विष्णु का जो ‘पद’ कहा है उसका अर्थ स्थान कदापि नहीं है । इसका स्पष्टीकरण उपनिषत्कार ने अन्यत्र किया है—तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योम् इत्येतत् (कठो० २।१५) अर्थात् परमात्मा के मुख्य ‘ओम्’ का सार्थक जप ही विष्णु का श्रेष्ठ पद=प्राप्ति का उपाय है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—‘तद् विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानम्’ अर्थात् व्यापक वासुदेव नामक परब्रह्म का वह उत्कृष्ट स्थान है । यहां एक तो परब्रह्म के लिए ‘वासुदेव’ शब्द का प्रयोग भ्रान्ति पैदा करता है । यद्यपि इसकी ब्रह्मपरक व्याख्या की जाती है, किन्तु यह शब्द श्रीकृष्ण के लिए रूढ़ हो चुका है अतः परमात्मा के लिए उसका प्रयोग ठीक नहीं है । उपनिषत्कार ने आत्मा ओम् व ब्रह्म से भिन्न परमात्मा के लिए ऐसे रूढ़ शब्दों का कहीं प्रयोग नहीं किया है और जैसे अवैदिक मतावलम्बी ईश्वर को व्यापक न मानकर किसी स्थानविशेष में रहने वाला मानते हैं । कोई सातवें आसमान में, कोई पांचवें आसमान में, कोई वैकुण्ठ में और कोई ऐसे ही दूसरे स्थानों

पर ईश्वर का निवास मानते हैं, वैसे ही विष्णु के 'पद' का 'स्थान' अर्थ करने से वही गन्ध अथवा भ्रान्ति फैलती है । अतः यहां सर्वत्र व्यापक विष्णु का 'पद=उसकी प्राप्ति का उपाय या जानने योग्य स्वरूप' अर्थ ही करना चाहिए । उपनिषद् में 'पदम्' की व्याख्या करते हुए इसी भाव का स्पष्ट उल्लेख किया है—“तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्यमित्येतत्” अर्थात् 'ओम्' ही परमेश्वर का पद=प्राप्ति का श्रेष्ठ उपाय है ।

अब उस परम पद (परब्रह्म) की सूक्ष्मता का कथन करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसश्च परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥३।१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः ।

पुरुषान् परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परागतिः ॥३।११॥

पदार्थ—(इन्द्रियेभ्यः^१) नेत्रादि इन्द्रियों से (अर्थाः) इन्द्रियों के शब्दस्पर्शादि विषय (हि) निश्चय करके (पराः) सूक्ष्म हैं, (च) और (अर्थेभ्यः) इन शब्दादिविषयों से (मनः) मन (परम्) सूक्ष्म है (च) और (मनसः) सङ्कल्प-विकल्पात्मक मन से (बुद्धिः) निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि (परा) अतिसूक्ष्म है (बुद्धेः) और इस निश्चयात्मक वृत्ति से (आत्मा^२) व्यापक (महान्) महत्तत्त्व (परः) अतिसूक्ष्म है ॥ (३।१०)

(महतः) महत्तत्त्व से (अव्यक्तम्) सत्त्व, रजः तथा तमोगुण की साम्यावस्था=प्रकृति (परम्) सूक्ष्म अव्यक्तात् कारण रूप प्रकृति से (पुरुषः^३) जीवात्मा तथा परमात्मा (परः) अत्यन्तसूक्ष्म हैं और (पुरुषात्) पुरुष से (परम्) सूक्ष्म (किञ्चित्) कुछ भी (न) नहीं है (सा) वह

१. इन्द्रस्य=ऐश्वर्यप्राप्तेर्लिङ्गम्=चिह्नम्, इन्द्रेण परमेश्वरेण दृष्टम् प्रकाशितम् इन्द्रेण विद्यावता जीवेन जुष्टम् सम्प्रीत्या सेवितम्, इन्द्रेण परमेश्वरेण यद् दत्तं सर्वसुखज्ञानसाधकम् । (यजु० २।१० महर्षिभाष्ये) 'इन्द्रिय-मिन्द्रलिङ्गम्' (अ० ५।२।१३) सूत्रेण लिङ्गादिष्वर्थेषु निपातितः ।

२. 'आत्मा' शब्द यहां महान्-महत्तत्त्व का विशेषण है । क्योंकि वह अपने कार्यों में व्याप्त है । इसके लिए कठो० ६।७ भी द्रष्टव्य है ।

३. 'पुरुष' शब्द का प्रयोग जीवात्मा व परमात्मा दोनों के लिए हुआ है । देखिए निरुक्त में—“पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा । पूरयत्यन्त-रित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य ॥” (निरुक्ते २।३)

यहां आचार्य शङ्कर भ्रान्तिवश 'आत्मा' शब्द के अर्थ को न समझकर व्याख्या कर गए हैं। उन्होंने यहां विशेषण-विशेष्यभाव को भी नहीं समझा है। यहां 'आत्मा' शब्द 'महान्' का विशेषण है, किन्तु उन्होंने 'महान्' शब्द को 'आत्मा' शब्द का विशेषण माना है। यह उनका भ्रम है। सांख्यदर्शन के अनुसार भी प्रकृति का जो प्रथम विकार है, उसे महत्तत्त्व कहा है, उसे ही यहां 'महान्' शब्द से निर्देश किया गया है। और क्योंकि महत्तत्त्व अपने समस्त कार्यों में व्याप्त है, अतः उसका विशेषण 'आत्मा' शब्द पड़ा है। किन्तु शङ्कर स्वामी ने इस

रहस्य को न समझकर सब शरीर में विद्यमान प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) को ही मानकर ऐसी मिथ्या व्याख्या की है और उसे प्रकृति का विकार मानकर तो अतीव आश्चर्य ही पैदा कर दिया है ।

परम-सूक्ष्म परमात्मा को कैसे जाना जा सकता है ? अब यह कथन करते हैं—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वग्रया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥३।१२॥

पदार्थ—(सर्वेषु, भूतेषु) सब प्राणी वा अप्राणियों में (एषः) यह परमात्मा (गूढात्मा) व्यापकरूप से छिपा हुआ है, अतः (न, प्रकाशते) इन भौतिक इन्द्रियों से नहीं जाना जाता (तु) किन्तु (अग्रया) कुशाग्र=सूक्ष्म विषय में प्रवेश करने वाली (सूक्ष्मया) सूक्ष्म (बुद्ध्या^१) बुद्धि से (सूक्ष्मदर्शिभिः) सूक्ष्म को भी जाननेवाले योगी जनों से (दृश्यते) जाना जाता है ।

भावात्—वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक तथा परम सूक्ष्म है । अतः सब प्राणियों तथा अप्राणियों में व्याप्त हो रहा है । वह परमात्मा ‘तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।’ (यजु०) इस समस्त स्थावर-जङ्गम-जगत् के अन्दर तथा बाहर व्याप्त है । वह हमारी आत्मा में व्यापक है । ऐसे सूक्ष्म परमात्मा को हम इन इन्द्रियों से कदापि नहीं जान सकते । वह सर्वत्र विद्यमान भी दिखाई न देने से छिपा हुआ है । उस व्यापक परमात्मा का कोई वस्तु आवरण नहीं हो सकती । उसको जानने का एक ही उपाय है कि योगाङ्गों के अनुष्ठानों से अशुद्धि को दूर करके विवेकख्याति की बुद्धि को प्राप्त करना । इसे ही योगदर्शन में ‘ऋतम्भरा प्रज्ञा’ कहा है । इसके आश्रय से योगी-जीवात्मा परमात्मा के जानने में

१. इस सूक्ष्म बुद्धि को ही योगदर्शन में ‘ऋतम्भरा प्रज्ञा’ कहा है । देखिए—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ (योग० १।४८) तस्मिन् समाहितचित्तस्य या प्रज्ञा जायते तस्य ऋतम्भरेति संज्ञा भवति । अन्वर्था च सा सत्यमेव बिभर्ति न च तत्र विपर्यास-ज्ञानगन्धोऽप्यस्तीति।” (व्यासभाष्यम्)

स्थिरचित्त होने पर जो बुद्धि उत्पन्न होती है उसका नाम ‘ऋतम्भरा’ है और ऋत=सत्य को धारण करने से सार्थक नाम है । उस बुद्धि में मिथ्याज्ञान की गन्ध भी नहीं होती । उससे ही परमात्मा को जाना जाता है ।

समर्थ हो जाता है । इस बुद्धि को प्राप्त करने के लिए चित्त-वृत्तियों का निरोध-करके परमात्मा में लगाना अत्यावश्यक है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—‘एषः पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादि-कर्मा अविद्यामायाच्छन्नोऽतएव आत्मा न प्रकाशते आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अति गम्भीरा दुरवगाह्या विचित्रा चेयं माया, यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णाति । अर्थात् यह सूक्ष्मतम ब्रह्म सब भूतों में छिपा हुआ है, दर्शन-श्रवणादि क्रिया वाला भी अविद्या माया से ढका हुआ है, इसीलिए वह प्रकाशित नहीं होता । यह माया बहुत गम्भीर, न जानने योग्य तथा विचित्र है कि सब जन्तु स्वयं परब्रह्म होते हुए भी बोध कराने से भी अपने को परमात्मा नहीं जान पाते ।

अद्वैतवाद के प्रवर्तक स्वामी शङ्कर की यह व्याख्या वेदादिशास्त्रों तथा मूल उपनिषद् के पाठों से भी विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकती। परमात्मा अत्यन्त सूक्ष्म होने से सब पदार्थों में व्याप्त है और वह सूक्ष्मतम होने से ही जीवों को नहीं दिखाई देता । इसका यह अभिप्राय नहीं है कि परब्रह्म को अविद्या-माया ने ढककर रखा है जब उनके मत में ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं मानी जाती तो यह अविद्या क्या वस्तु है ? और इसे मानते हो तो अद्वैतवाद से हाथ धोना पड़ेगा । और उपनिषत्कार कह रहा कि परब्रह्म सूक्ष्मतम है । क्या उससे स्थूल वस्तु उसे ढक सकती है ? क्या अविद्या के ढकने से ढका हुआ ब्रह्म ढकने से बाहर न होने से सर्वत्र व्यापक हो सकता है ? यदि ढकने से बाहर भी है तो उनके अनुसार वह दिखाई देना चाहिए ? क्या यहां उपनिषद् में अविद्या का कहीं सङ्केत है, जो शङ्कराचार्य ने स्वयं कल्पना कर ली है ?

और उपनिषद् में स्थान-स्थान पर जीव-ब्रह्म का भेद प्रतिपादित है, क्या उसको भुलाकर ‘अहं ब्रह्मास्मि’ का सिद्धान्त मानने योग्य है । स्वयं शङ्कर स्वामी ने (कठो० ३।१) की व्याख्या में जीव-ब्रह्म का भेद माना है । और यह लिखा है कि प्राप्त करने वाला तथा प्राप्त करने योग्य, जानने वाला और जानने योग्य के भेद से आत्मा दो हैं । फिर यहां परब्रह्म से भिन्न जीवात्मा की सत्ता का विरोध क्यों किया है ? यह उनकी शास्त्रविरुद्ध, युक्तिविरुद्ध तथा स्ववचनों से भी विरुद्ध व्याख्या है ।

अब परमात्मा को जानने के उपाय का कथन करते हैं ।

यच्छेद् वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ।

ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद् यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥३॥१३॥

पदार्थ—(प्राज्ञः) प्रकृष्ट ज्ञानयुक्त पुरुष (मनसि) मन में (वाक्^१) वाणी आदि इन्द्रियों का (यच्छेत्) संयम करे (तत्) उस मन को (ज्ञाने) ज्ञान में और (आत्मनि) आत्मा में (यच्छेत्) संयम करे (ज्ञानम्) ज्ञान के साधन बुद्धि को (महति, आत्मनि) परमात्मा में (नियच्छेत्) संयत करे (तत्) उस विज्ञान को (शान्ते, आत्मनि) शान्तस्वरूप परमात्मा में (यच्छेत्) संयत करे ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक का अर्थ इस प्रकार किया है—

“संन्यासी बुद्धिमान् वाणी और मन को अधर्म से रोके । उनको ज्ञान और आत्मा में लगावे और उस ज्ञान, स्वात्मा को परमात्मा में लगावे और उस विज्ञान को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ।”

(सत्यार्थ० पञ्चम० १२६ पृ०)

भावार्थ—परमात्मा के ज्ञान में तत्पर जिज्ञासु योगी को उचित है कि वह बाह्येन्द्रियों का संयम करके मन के आधीन करे, मन को निश्चयात्मक वृत्ति बुद्धि और आत्मा के आधीन करे और विज्ञान व स्वात्मा को शान्तस्वरूप सूक्ष्मतम परमात्मा के जानने में लगावे । इसे ही अध्यात्मयोग अथवा औपनिषद उपासना कहते हैं ।

और इससे यह भी स्पष्ट है कि संन्यासी केवल प्रज्ञान मात्र से ही परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता । उसे भी दुराचरण से पृथक् होकर शान्त रहना, आत्मा को परमात्मा में लगाना और अपनी इन्द्रियों पर संयम करना अपरिहार्य है । अन्यथा सफलता प्राप्त नहीं हो सकती ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में शङ्कर स्वामी लिखते हैं—‘यच्छेत्=नियच्छेत् । प्राज्ञः=विवेकी, वाग्=वाचम्, वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । क्व मनसि । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्ध्यात्मनि । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । तच्च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते.....मुख्य-आत्मनि । अर्थात् विवेकी (मुमुक्षु) पुरुष इन्द्रियों का मन में, मन का प्रकाश स्वरूप बुद्धि में, बुद्धि का महत्तत्त्व में और

१. वागित्युपलक्षणं सर्वेन्द्रियाणाम् ।

उस महान् आत्मा का मुख्यात्मा (परब्रह्म) में संयम करे ।

यह शङ्कर-भाष्य सार ही भ्रान्त है । शङ्कर स्वामी लिखते हैं—विवेकी पुरुष इन्द्रियों का मन में, मन का बुद्धि में, बुद्धि का महत्तत्त्व में और महत्तत्त्व का मुख्यात्मा में संयम करे । महत्तत्त्व प्रकृति का प्रथम विकार है, उसको परमात्मा में लगाने का क्या आशय है ? क्या जीवात्मा प्रकृति के इस प्रथम कार्य महत्तत्त्व का परमात्मा में संयम कर सकता है ? परमात्मा तो समस्त जगत् का नियन्ता है ही, उसमें संयम करने का कुछ प्रयोजन भी नहीं है । और संयम करने वाला विवेकी मुख्यात्मा=परमात्मा से भिन्न होने से अद्वैतवाद का स्पष्ट रूप में खण्डन हो रहा है । अतः महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या ही प्रकरणानुकूल है अर्थात् विवेकी पुरुष वाणी और मन का प्रथम संयम करे और उनको ज्ञान और आत्मा में संयम करे और ज्ञानस्वरूपात्मा को परमात्मा में लगावे और उस समय के प्राप्त विशेष ज्ञान (विज्ञान) को शान्तस्वरूप आत्मा में स्थिर करे ।

और यहां शङ्कराचार्य ने पद-पाठ को भी नहीं समझा है अथवा जानबूझकर पदों का मिथ्या अर्थ किया है । उपनिषत् के श्लोक में 'वाङ्मनसी' द्विवचनान्त पद है, उसकी व्याख्या शङ्करभाष्य में वाङ् तथा मनसि' पृथक् पृथक् मानकर व्याख्या की है । और यह लिख दिया है कि 'मनसी' में दीर्घ छान्दस है । प्रथम तो यह पदों का विभाग ही मिथ्या है । और यदि इन्हें पृथक्-पृथक् पद मान भी लिया जाए, तो 'यच्छेत्' क्रिया का 'वाक्' कर्म होने से 'वाचम्' पाठ होना चाहिए था। अतः शङ्कराचार्य ने यह पद-विभाग भ्रान्तिवश किया है और यह विभाग मूलपाठ से सर्वथा विरुद्ध है ।

अब अतिसूक्ष्म परमात्म-ज्ञान को अत्यन्त पुरुषार्थ से साध्य कथन करते हैं ।

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥३॥१४॥

पदार्थ—हे मुमुक्षु जनो ! परमात्म-ज्ञान के लिए (उत्तिष्ठत) उठो=आगे बढ़ो (जाग्रत) अविद्या-निद्रा को त्यागकर जागो (वरान्) श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी आचार्यों को (प्राप्य) प्राप्त होकर=उनके चरणों में बैठकर (निबोधत) योगाङ्गों का अनुष्ठान करके ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करो ।

भावार्थ—इस अध्यात्मविद्या का प्राप्त करना सुगम नहीं है। इसके लिए कठोर संयम तथा साधना की आवश्यकता होती है। इसीलिए इस विद्या की प्राप्ति के मार्ग को तेज तलवार की धार पर चलने की भांति अतिकठिन बताया है। साथ ही इस विद्या को प्राप्त करने के लिए सरल उपाय भी बताया है। जो मुमुक्षु जन हैं, उन्हें सर्वप्रथम उत्तिष्ठत=सामान्य मनुष्यों के स्तर से ऊपर उठना अर्थात् दुराचरण को छोड़ना होगा। ज्ञान-मार्ग में प्रबल बाधक अज्ञान (अविद्या) की ग्रन्थि को काटकर दूर करना होगा। और फिर जाग्रत=मोक्षमार्ग पर चलने के लिए सदा साव- धान एवं जागरूक रहना होगा क्योंकि यह संसार एक परीक्षा का केन्द्र है। इसमें इस सन्मार्ग से रोकने के लिए पता नहीं कितनी काञ्चन-कामिनी जैसी लुभावने वाली बाधाएं आती हैं उनसे बचने के लिए योगी को सदा सतर्क रहना होगा। और फिर जन्म-जन्मान्तरों से मन में सञ्चित कुवासनाओं और बुरे संस्कारों को दग्ध करने के लिए ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करना होगा। एतदर्थ कहा है—‘प्राप्य वरान् निबोधत’ अर्थात् जो इस विद्या में श्रेष्ठ, अनुभवी विद्वान् हों उनकी शरण में जाकर ज्ञान की ज्योति जलानी होगी। इस प्रकार यह कठिन मार्ग भी सरल हो जाएगा।

उस परम-सूक्ष्म परमात्मा के सत्यस्वरूप को जानने से मृत्यु (दुःख) की निवृत्ति का कथन करते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥३॥१५॥

१. 'कवि' शब्द निम्नान्तज्ञानवाले, प्राप्त विद्वान्-पुरुष को कहते ।
देखिए—

कविः=मेधाविनाम ॥ (निघ० ३।१५) कविः=क्रान्तदर्शनो भवति
कवतेर्वा ॥ (निरुक्ते १२।१३)

ये वा अनूचानस्ते कवयः । (ऐ० २।२) एते वै कवयो यद् ऋषयः।
(शत० १।४।२।८)



पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (अशब्दम्) शब्दरहित (अस्पर्शम्) स्पर्शरहित (अरूपम्) रूपरहित (अरसम्) रसरहित (तथा) और (अव्ययम्) विकाररहित=अविनाशी (नित्यम्) अनादि (अगन्धवत्) गन्धरहित (अनन्तम्) अनन्त (महतः, परम्) महत्तत्त्व से भी सूक्ष्म है (च) और (ध्रुवम्) अचल है (तत्) उस ब्रह्म को (निचाय्य) जानकर (मृत्युमुखात्) जन्म-मरण के प्रवाहरूप दुःख-बन्धन से (प्रमुच्यते) जीवात्मा मुक्त हो जाता है ।

महर्षि दयानन्द कृत इस श्लोक की व्याख्या विभिन्न स्थानों पर इस प्रकार है—

(क) “वह (ब्रह्म) शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध और नाशरहित, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्तत्त्व से परे निश्चल है । उसी को ठीक-ठीक जान के मृत्यु रूप ग्रह के मुख से छूटता है ।”

(वेदविरुद्धमतखण्डनम्, ल० २९ पृ०)

(ख) “जो शब्द, स्पर्श रूपादिगुणरहित है, इससे परमात्मा का नाम निर्गुण है । ‘यो गुणैः सह वर्तते सः सगुणः’ जो सब का ज्ञान सर्वसुख, पवित्रता, अनन्त बलादिगुणों से युक्त है, इसलिए परमात्मा का नाम सगुण है ।”

(सत्यार्थ प्रथम० २४ पृ०)

(ग) “अतो देहधारणेनेश्वरः सगुणो भवति, देहत्यागेन निर्गुणश्चेति या मूढानां कल्पनास्ति सा वेदादिशास्त्रप्रमाणविरुद्धा विद्वदनुभवविरुद्धा चास्ति । तस्मात् सज्जनैर्व्यर्थेयं रीतिः सदा त्याज्येति शिवम् ।”

अर्थ—जो अज्ञानी मनुष्य ईश्वर के देह-धारण करने से सगुण और देहत्याग करने से निर्गुण उपासना कहते हैं, सो यह उनकी कल्पना सब वेदशास्त्रों के प्रमाणों और विद्वानों के अनुभव से विरुद्ध होने के कारण सज्जन लोगों को कभी न माननी चाहिए ।” (ऋ० भा० मुक्तिविषयः)

(घ) ‘आर्य लोग पृथिव्यादि जड़ देवताओं की पूजा करते थे ।’ ऐसी पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्ति को दूर करने के लिए महर्षि-दयानन्द ने ‘अशब्दमस्पर्शम्०’ इत्यादि अनेक प्रमाणों से (ऋ० भू० ७३ पृ०) यह सिद्ध किया है कि वे वेदादि शास्त्रों में एक निराकार परमेश्वर की उपासना का ही उल्लेख है । आर्य लोग भी एक-ईश्वर के ही उपासक रहे हैं।

भावार्थ—इस श्लोक में ईश्वर के स्वरूप का बहुत ही निर्भ्रान्त तथा सत्य व्याख्यान किया गया है । जिससे ईश्वर के साकारवाद तथा अद्वैतवाद का समूल उन्मूलन हो जाता है । वह सर्वत्र व्यापक ईश्वर

कैसा है ? इसका स्पष्ट उत्तर यहां दिया गया है कि वह इन इन्द्रियों का विषय न होने से रूपादि रहित है । वह निर्विकार होने से 'अव्यय' है । उसका कोई कारण न होने से वह अनादि और उसका कोई कार्य न होने से वह 'अनन्त' है । जो ईश्वर का साकार स्वरूप भी मानते हैं, वे ईश्वर के उपर्युक्त विशेषणों की सङ्गति कदापि नहीं लगा सकते । उपनिषद् की यह व्याख्या 'स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्०' (यजुर्वेद) इस वेद-मन्त्र के अनुकूल होने से यथार्थ है ।

और इस श्लोक में कहा है 'निचाय्य) तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' अर्थात् बद्ध जीवात्मा उस परमात्मा को जानकर मृत्यु=जन्म-मरण के दुःख से छूट जाता है । यहां जीव-ब्रह्म का ज्ञाता-ज्ञेय, बद्ध-मुक्त तथा उपास्य-उपासक भेद से स्पष्ट भेद-वर्णन किया गया है । यहां आचार्य शङ्कर ने भी यही व्याख्या मानी है । मृत्यु आदि दुःखों के बन्धन में परमात्मा कभी नहीं आ सकता, क्योंकि वह सदा मुक्त, सच्चिदानन्दस्वरूप तथा निर्विकार है । अतः नवीन वेदान्तियों की अद्वैतवाद की मान्यता उपनिषदों के भी विरुद्ध होने से माननीय कभी नहीं हो सकती ।

इन तीन वल्लियों में प्रतिपादित गुरु-शिष्य के संवाद के उपाख्यान की प्रशंसा करते हुए उपनिषत्कार कहते हैं—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।

उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥३॥१६॥

पदार्थ—(मृत्युप्रोक्तम्) इस यमाचार्य से उपदिष्ट (नाचिकेतम्) नाचिकेता-सम्बन्धी (सनातनम्) परम्परा से सुने जाने वाले सनातन (उपाख्यानम्) गुरु-शिष्य के आलङ्कारिक वर्णन को (उक्त्वा) योग्य शिष्य को उपदेश देकर (च) और (श्रुत्वा) ब्रह्मवेत्ता गुरु से सुनकर (मेधावी) विवेक वाली बुद्धि से सम्पन्नयोगी (ब्रह्मलोके) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों में (महीयते) अतिशय सम्मान को प्राप्त करता है ।

भावार्थ—इस अध्यात्मविद्या को 'नाचिकेत-उपाख्यान' इसलिए कहते हैं कि यमाचार्य ने इसका नाचिकेता को उपदेश किया था । यथार्थ में तो यम-नाचिकेता का यह समस्त संवाद आलङ्कारिक है । इसको 'नाचिकेत' इसलिए कहा गया है कि इसमें अध्यात्म विद्या है । 'चिकेतं ज्ञानं, तद् रहितं वस्तु अचिकेतं जडम् । तद् रहितं नाचिकेतम्=ज्ञानगुणत्वाज्

जीवात्म-परमात्मसम्बन्धि-ज्ञानम् ।' इस निर्वचन से स्पष्ट है कि आत्मा-परमात्मा-सम्बन्धी ज्ञान होने से ही इसे 'नाचिकेत' कहते हैं ।

यहां 'मृत्यु' से अभिप्राय कोई देवता-विशेष नहीं, प्रत्युत मृत्यु-दुःख से छुड़ाने वाली विद्या के उपदेष्टा को ही 'मृत्यु' कहा गया है । वेद में स्पष्ट कहा है—'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' अर्थात् परमात्मा को जानकर ही मृत्यु-दुःख से छूट जाता है । उपनिषद् में भी कहा है कि 'निचाय्य तं मृत्युमुखात् प्रमुच्यते' (कठो० ३।१५) अर्थात् मृत्यु के दुःख से मुक्ति पाने के लिए परमात्मा का यथार्थ ज्ञान होना परमावश्यक है ।

इस श्लोक में यह भी स्पष्ट कहा है कि यह विद्या वेदों से ही प्राप्त हुई है, अतः यह वेद की भांति सनातन=सदा रहने वाली है । और जैसे परमात्मा ने वेद का ज्ञान प्राणिमात्र के हित दिया है, वैसे ही इस विद्या को सीखकर अपने तक ही सीमित न रखा जाए, प्रत्युत दूसरों को भी सिखाया जाए । इसीलिए यहां 'उक्त्वा श्रुत्वा च' दोनों क्रियाओं का निर्देश किया गया है । और 'ब्रह्मलोक' कोई स्थान-विशेष नहीं है । 'लोक' शब्द का प्रयोग यहां 'समूह या समीप' अर्थ में हुआ है । ब्रह्मवेत्ता पुरुषों के मध्य तथा ब्रह्म के समीप होने से इस विद्या के उपदेष्टा का सत्कार अवश्य होता है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में भी श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—

‘ब्रह्मलोके महीयते आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यभिप्रायः ।’

अर्थात् इस नाचिकेत उपाख्यान को कहकर या सुनकर जीवात्मा परमात्मा होकर उपासनीय हो जाता है । यह व्याख्या उनके पूर्वाग्रह को ही बता रही है क्योंकि मूल उपनिषद् में ऐसा कोई शब्द नहीं है । उपनिषद् में तो केवल यह कहा है—ब्रह्मलोक=ब्रह्म के जानने वालों में महीयते=सत्कार को प्राप्त करता है' और यदि जीवात्मा परमात्मा हो जाता है तो ब्रह्मलोक अर्थात् मोक्षप्राप्ति का लाभ ही क्या हुआ ? परमात्मा तो सदा आनन्दस्वरूप है ही । जीवात्मा ने जो मोक्ष-प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया उसका फल उसने कब और कहां भोगा ? और मरने के बाद नवीन वेदान्तियों के मत में जीवात्मा परमात्मा का अंश होने से परमात्मा में मिल जायेगा, तब मुक्ति के लिए प्रयत्नशील तथा दूसरे जीवों में क्या अन्तर होगा ? अतः जीवात्मा को परमात्मा का अंश मानना और मोक्ष में जीवात्मा का परमात्मा

में लय होना, ये सब बातें अप्रामाणिक एवं काल्पनिक हैं ।

पुनरपि इस उपाख्यान की स्तुति करते हुए कहते हैं—

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्म-संसदि ।

प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते ।

तदानन्त्याय कल्पत इति ॥३॥१७॥

पदार्थ—(यः) जो पुरुष (प्रयतः^१) शरीर तथा इन्द्रियों की शुद्धि करके तथा शान्त होकर (इमम्) इस उपर्युक्त (परमम्) अत्युत्तम (गुह्यम्) गोपनीय=अधिकारी पुरुष को देकर संरक्षणीय उपाख्यान को (ब्रह्मसंसदि) ब्रह्मज्ञानियों व ब्रह्म-जिज्ञासुओं की सभा में (वा) अथवा (श्राद्धकाले) श्रद्धा से किए जाने वाले जीवित विद्वानों अतिथियों के सत्कार के समय (श्रावयेत्) सुनाता है (तत्) वह उपदेश (आनन्त्याय) अविच्छिन्न=लगातार मिलने वाले मोक्ष-सुख की प्राप्ति के लिए (कल्पते) समर्थ हो जाता है । (तदानन्त्याय कल्पते) यह पुनरुक्ति पूर्वोक्त बात की दृढ़ता तथा इस वल्ली की समाप्ति की सूचना के लिए है ।

भावार्थ—निरुक्त में लिखा है कि—‘विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम, गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम् ।’ (निरुक्त २।४) अर्थात् विद्या ब्राह्मण के पास आकर कहने लगी कि हे ब्राह्मण ! तू मेरी रक्षा कर, मैं तेरा खजाना हूँ । तू असूयक, कुटिल तथा अजितेन्द्रिय विद्यार्थी को मुझे न देना । अर्थात् योग्य विद्यार्थी को देने से मैं शक्तिसम्पन्न होती हूँ । इससे स्पष्ट है कि योग्य शिष्य को ही दी गई विद्या सदा सफल होती है और बढ़ती है इसी प्रकार यहां उपनिषत्कार ने भी इस अध्यात्म विद्या की योग्यता का यहां स्पष्ट निर्देश किया है कि जो शिष्य ब्रह्मविद्या जानने की इच्छा रखता हो, श्रद्धावान् हो तथा प्रयत्न अर्थात् संयम करके ग्रहण करना चाहता हो तो उसे सुनाने वालों को सफलता होती है । और ब्रह्मज्ञानियों के मध्य सुनाने से सत्यासत्य का निर्णय होने से अज्ञान दूर होने से मुक्ति का अधिकारी भी बन जाता है इस अध्यात्मविद्या का उपदेश अयोग्य को नहीं करना चाहिए इसलिए इसे ‘गुह्यविद्या’ कहते हैं ।

इति कठोपनिषद्भाष्ये तृतीया वल्ली समाप्ता ।

१. प्रयतः=प्रोपसृष्टाद् यती प्रयत्ने (भ्वा०) धातो रूपम् । प्रयतः=प्रयत्नेन साधित इत्यर्थः । महर्षिकृतोऽर्थः—प्रयत्नेन साधितानि ॥ (यजु० १९।५९)



अथ कठोपनिषद्भाष्ये चतुर्थी वल्ली

तृतीय-वल्ली में कहा गया है कि परमात्मा का ज्ञान सूक्ष्मबुद्धि से होता है । अब यहां सूक्ष्म-बुद्धि बनाने के उपाय का कथन करते हैं—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् ।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षतावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥४॥१

पदार्थ—(स्वयम्भूः^१) उत्पत्ति-विनाशरहित परमात्मा ने (खानि) इन्द्रियों को (पराञ्चि) बहिर्मुख बाह्य शब्दादि विषयों की ओर जाने वाली (व्यतृणत्^२) विशेष रूप से बनाया है । (तस्मात्) इस कारण से मनुष्य (पराङ्) बाह्य विषयों को (पश्यति) इन्द्रियों से देखता=जान पाता है, किन्तु (न, अन्तरात्मन्^३) अन्तरात्मा=परमात्मा को नहीं जान सकता । (कश्चित्) कोई (धीरः) विवेकशीलपुरुष (आवृत्तचक्षुः) चक्षु आदि इन्द्रियों को ढककर=बाह्यविषयों से पृथक् करके (अमृतत्वम्) मोक्षपद की (इच्छन्) इच्छा करता हुआ (प्रत्यगात्मानम्) प्रत्येक जीव के अन्तःकरण में व्याप्त परमात्मा का (ऐक्षत्) साक्षात्कार करता है अर्थात् जान पाता है। (यहां लट् अर्थ में लङ् का प्रयोग है) ।

भावार्थ—स्वयम्भू परमात्मा ने शरीरस्थ बाह्येन्द्रियों की रचना रूपदि बाह्यविषयों के ग्रहण करने के लिए ही की है । अतः वे बाह्यविषयों का ग्रहण करती हैं । जब तक जीवात्मा इन बाह्येन्द्रियों के विषय में फंसा रहता है, तब तक वह परमात्मा को नहीं जान सकता । इसलिए मुमुक्षुजनों को 'आवृत्तचक्षुः=बाह्यविषयों से निवृत्त होना ही

१. स्वयम्भूः=निमित्तोपादानसाधारणकारणत्रयरहितः परमात्मा । (ऋ० भू० ३६) (यजु० ४०।८ महर्षिभाष्ये) । यः स्वयं भवति स स्वयम्भूरीश्वरः' जो आप से आप ही है । किसी से कभी उत्पन्न नहीं हुआ है । इस से उस परमात्मा का नाम स्वयम्भू है । (स०प्र० प्र० समु०)

२. धातूनामनेकार्थकत्वादत्र तृद्धातोर्निर्माणार्थे प्रयोगः ।

३. यहां 'अन्तरात्मन्' पद परमात्मा के लिए ही आया है । 'यस्यात्मा शरीरम्' (बृहदा०) इस प्रमाण से परमात्मा हमारी आत्माओं में भी व्याप्त है, अतः अन्तरात्मा कहा जाता है ।

पड़ेगा। इस ब्रह्मविद्या के रहस्य को न समझकर अज्ञानी पुरुष बाह्य मूर्ति आदि में परमेश्वर की उपासना के नाम पर भटकते रहते हैं। परन्तु वह परमेश्वर इन इन्द्रियों का विषय ही नहीं है। अतः मोक्षार्थी को प्रज्ञाचक्षु होकर अन्तःकरण (मन) की वृत्तियों को भी निरोध कर परमेश्वर के ध्यान में लगाना चाहिए। जो पुरुष इन लौकिक विषयों से अपने आपको बचा लेता है वही यथार्थ में धीर-पुरुष है। 'को हि शूरः ? विजितेन्द्रियः' भर्तृहरि महाराज ने भी जितेन्द्रिय पुरुष को ही शूरवीर कहा है। बाह्य-विषयों में आसक्त रहना और योगसाधना करना दोनों परस्पर विरोधी मार्ग हैं। विषयों में आसक्त होकर अपने को जो योगी बताता है, वह योगी नहीं, ढोंगी है।

समीक्षा—इस श्लोक में स्पष्ट रूप से द्रष्टा-दृश्य तथा व्यापक-व्याप्य के भेद से जीव-ब्रह्म का भेद दिखाया है। परमात्मा जीवात्माओं के अन्दर भी व्यापक है, अतः उसे यहां 'अन्तरात्मा' कहा है। परन्तु ऐसा मानने से स्वामी शङ्कराचार्य के मत का खण्डन होता है, अतः उन्होंने इसका अर्थ यह किया है—तं प्रत्यगात्मानं=स्वं स्वभावम् ऐक्षदपश्यत् पश्यतीत्यर्थः।' अर्थात् कोई धीर योगी अपने स्वभाव को देखता है। यह कितनी असङ्गत तथा मिथ्या व्याख्या उन्होंने की है, यह विद्वान् पुरुष ही जान सकते हैं। क्या अपने स्वभाव को ही जानने के लिए कठोर तपस्या व योग-साधना का अभ्यास किया जाता है ? और जो जिसका स्वभाव है, उसे तो स्वयं की बात ही क्या, दूसरे मनुष्य भी जान लेते हैं। अपने स्वभाव को जानने के लिए बाह्यविषयों से इन्द्रियों को रोकनादि साधना करने की क्या आवश्यकता है ? इसके आगे वे लिखते हैं—'अमृतत्वमिच्छन्=अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मनः।' अर्थात् योगी आत्मा के नित्य स्वभाव को चाहता हुआ अपने स्वभाव को देखता है। यहां भी पूर्वाग्रह वश ही यह व्याख्या की है। जीवात्मा नित्य व अमरणधर्मा है, इनकी इच्छा करने की जीवात्मा को क्या आवश्यकता है ? यह व्याख्या मूल उपनिषद् से भी विरुद्ध है। उपनिषद् में 'अमृतम्' पद मोक्ष के लिए आया है। जन्म-मरण के दुःखों से सन्तप्त जीवात्मा दुःखों से छूटकर अमृत=मोक्ष को चाहता है, अपने स्वभाव को जानना नहीं।

अब धीर और अधीर पुरुष के भेद का कथन करते हैं—

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशम् ।

अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥४॥२॥

पदार्थ—(बालाः^१) जो अज्ञानी पुरुष (पराचः) बाह्यविषयों की (कामान्) इच्छाओं के (अनुयन्ति) पीछे भागते हैं (ते) वे अज्ञानी पुरुष (विततस्य) विस्तृत अर्थात् प्राणिमात्र में अधिकता से फैले हुए (मृत्योः) मृत्यु=दुःख के (पाशम्) जन्म-मरण रूप बन्धन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं । (अथ) और (धीराः) जो विवेकशील ज्ञानी पुरुष हैं (ध्रुवम्) नित्य (अमृतत्वम्) दुःखरहित मोक्ष सुख को (विदित्वा) जानकर (इह) इस लोक में (अध्रुवेषु) अनित्य पदार्थों के नश्वर सुख की (न, प्रार्थयन्ते) इच्छा नहीं करते ।

भावार्थ—इस श्लोक में सांसारिक तथा मोक्ष-सुख में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट करते हुए लिखा है कि लौकिक सुख अध्रुव=क्षणिक होता है और परिणाम में दुःख देने वाला होता है । किन्तु मोक्ष-सुख ध्रुव=निश्चल और परिणाम में अमृत-तुल्य होता है । जैसा कि गीता में कहा है—यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्' । अर्थात् मोक्षसुख की प्राप्ति के लिए प्रथम जो साधन किए जाते हैं, वे विषतुल्य दुःखद प्रतीत होते हैं, किन्तु उनका फल अमृत होता है । इस रहस्य को न जानकर बालबुद्धि=अज्ञानी बाह्यविषयों में ही आसक्त रहकर मृत्यु के पाश=जन्म-मरण के बन्धन से नहीं छूट पाते हैं और जो धीर=विवेकी हैं, वे परिणाम को जानकर ध्रुव=मोक्ष सुख की ही कामना करते हैं । और पुत्र, धन तथा लोक की समस्त एषणाओं का परित्याग कर देते हैं।

समीक्षा—यहां मोक्षसुख को ध्रुव तथा लौकिक-सुख को क्षणिक होने से 'अध्रुव' कहा गया है । यहां पर स्वामी शङ्कराचार्य ने लिखा है—

‘देवाद्यमृतत्वं ह्यध्रुवम्, इदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं ध्रुवम् ।’
अर्थात् स्वर्गस्थ देवों को जो अमृत=सुख प्राप्त है, वह अध्रुव है और व्यापक परमात्मा के स्वरूप को जानने से जो मोक्ष मिलता है वह ध्रुव है । यहां 'अध्रुव' की व्याख्या उन्होंने काल्पनिक ही की है । क्योंकि देवों का कोई 'स्वर्ग' नामक स्थान का मानना ही कल्पनापूर्ण है, यथार्थ नहीं और पृथिवी पर रहनेवाले मुमुक्षुजन उस दूरस्थ स्वर्गस्थ-सुख को

१. अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः । (मनु०)

कैसे जान सकते हैं कि वह अध्रुव है ? और उसके गुण-दोषों को विना जाने मनुष्यों को उसके विषय में जानकारी का ही सम्भव नहीं है । और यहां ध्रुव तथा अध्रुव दोनों सुखों को शङ्कराचार्य ने 'अमृत' मानकर भी भ्रान्ति की है । क्योंकि मोक्ष-सुख अमृत=अविनश्वर होने से ही ध्रुव कहाता है । और जो नष्ट होने वाला या क्षणिक सुख है, उसे अमृत=अविनश्वर कहना परस्पर विरुद्ध होने से मिथ्या है ।

अब नचिकेता के प्रष्टव्य-प्रश्न अर्थात् मरने के बाद आत्मा है या नहीं, जीवात्मा का स्वरूप क्या है ? इसका उत्तर देते हुए यमाचार्य कहते हैं—

येन रूपं रसं गन्धं शब्दान् स्पर्शाश्च मैथुनान् ।

एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥४।३॥

पदार्थ—(येन) जिस (एतेन) इस शरीरस्थ जीवात्मा के रहने से (एव) ही (रूपम्) रूप (रसम्) रस (गन्धम्) गन्ध (शब्दान्) शब्दों (स्पर्शान्) स्पर्शों (च) और (मैथुनान्) मैथुन से होने वाले विषय-सुखों को (विजानाति) जाना जाता है (अत्र) इस शरीर में मरने के बाद (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है ? अर्थात् जीव के शरीर से निकलने पर कुछ नहीं रहता (एतत्) यह शरीर से वियुक्त होने वाला ही (वै) निश्चय करके (तत्) वह जीवात्मा है, जिसके विषय में हे नचिकेता ! तुमने पूछा है ।

भावार्थ—इस शरीर रूपी रथ का स्वामी जीवात्मा है, यह कठो० में तृतीयावल्ली में रथ के रूपक से समझाया गया है । अन्वय^१—व्यतिरेकन्याय से शरीरस्थ समस्त क्रियाओं का कर्त्ता जीवात्मा है । क्योंकि मरने के पश्चात् इस शरीर में कोई क्रिया नहीं देखी जाती । अतः स्पष्ट है कि इन क्रियाओं का जो कर्त्ता=जीवात्मा था, वह शरीर से अब पृथक् हो गया है । और यह जीवात्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। इस शरीर में जिसके रहते हुए हम रूप, रस, गन्ध शब्द, स्पर्श इन विषयों तथा मैथुनजन्य सुखों का ज्ञान करते हैं, और जीवात्मा के वियोग होने पर आंख देखती नहीं, कान सुनता नहीं, नासिका गन्ध ग्रहण नहीं

१. तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः ॥ अर्थात् जिसके होने से हो, और न होने से न हो वह उसी का कार्य कहलाता है । इसी का नाम अन्वयव्यतिरेक न्याय है ।

करती, रसना स्वाद नहीं ले सकती तथा स्पर्शेन्द्रिय स्पर्शजन्य सुखों को नहीं प्राप्त करती अर्थात् कुछ भी शेष नहीं रहता । अतः जो चेतनशक्ति इस भौतिक शरीर में रूपादि विषयों का अनुभव कर रही थी, वही जीवात्मा है, और वह शरीरेन्द्रियादिसङ्घात से पृथक् चेतनसत्ता है । यहां जीवात्मा के स्वरूप का भी स्पष्ट निर्देश किया गया है कि वह सत् और चित् है। शरीर से वियोग होने पर भी विद्यमान रहने से वह सत् और इच्छादि गुणों वाला होने से वह चित् है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—‘यस्यात्मनोऽविज्ञेयं न किञ्चित् परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः।’ अर्थात् जिस आत्मा के लिए न जानने योग्य कुछ भी नहीं है, वह आत्मा सर्वज्ञ है । यह व्याख्या प्रस्तुत प्रकरण से विरुद्ध होने से मिथ्या है । इस श्लोक में रूपादि विषयों को ग्रहण करने वाले जीवात्मा का वर्णन है, परमात्मा का नहीं । क्योंकि रूपादि का ग्रहण जीव करता है, परमात्मा नहीं और वह जीवात्मा सर्वज्ञ नहीं है । जीवात्मा अल्पज्ञ तथा परमात्मा सर्वज्ञ है, इस रहस्य को न समझकर जीवात्मा के गुणों को परमात्मा में समावेश करना और परमात्मा के गुणों का जीवात्मा में समावेश करना, दोनों के स्वरूप को नहीं समझना है ।

परमात्मा जीवात्मा के समस्त कार्यों का साक्षी है । अतः उसको जानकर ही दुःखों से निवृत्ति होती है । यह कथन करते हैं—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥४॥४॥

पदार्थ—(स्वप्नान्तम्) स्वप्न=सोने की समाप्ति के समय अर्थात् दिन भर (च) और (जागरितान्तम्) जागने के अन्त में अर्थात् सारी रात (उभौ) दोनों सोने व जागने के समय के कार्यों को (येन) जिस जीवात्मा के साथ (अनुपश्यति) जो परमात्मा साक्षीभाव से देखता रहता है, उस (महान्तम्) सर्वोत्कृष्ट (विभुम्) व्यापक (आत्मानम्) परमात्मा को (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकशील विद्वान् पुरुष (न शोचति) शोक=सन्ताप नहीं करता ।

भावार्थ—परमात्मा जीवों के कर्मों का साक्षी है, अतः उसको ‘मनीषी’ कहते हैं वह जीवों के शारीरिक, वाचिक तथा मानसिक सभी प्रकार के कर्मों के फल देता है । स्वप्नावस्था में जब शरीर की चेष्टाएं

नहीं होतीं, उस समय भी मन का व्यापार नहीं रुकता । परमात्मा जागृतावस्था के कर्मों की भांति स्वप्नावस्था के मानसिक कर्मों का भी साक्षी है और उन शुभाशुभ कर्मों के फलों का देने वाला है । ऐसे आत्मा में भी व्यापक देव से छिपकर जीव कोई भी चेष्टा नहीं कर सकता । अतः जो विद्वान् परमात्मा की इस व्यापक व्यवस्था को समझ लेता है, वह कभी भी दुष्कर्मों में रत नहीं होता । और वह धीर=विवेकशील विद्वान् शोकादि दुःखों से बच जाता है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कर लिखते हैं—
‘तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवगम्यात्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ।’ अर्थात् धीर पुरुष उस महान् व्यापक परमात्मा को जानकर साक्षात् मैं परमात्मा हूँ यह समझकर शोक नहीं करता । यह उनकी व्याख्या मूल श्लोक से विरुद्ध तथा पूर्वाग्रह वश मिथ्या की गई है । ‘मैं साक्षात् परमात्मा हूँ’ ऐसा भाव श्लोक के किसी पद से नहीं निकल रहा है । प्रत्युत ज्ञाता-ज्ञेय के भेद से जीव ब्रह्म का भेद तो स्पष्ट रूप से कहा गया है ।

अब परमात्म-ज्ञान का प्रकारान्तर से फल-कथन करते हैं—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।

ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥४॥५॥

पदार्थ—(यः) जो परमात्मा (इमम्) इस (मध्वदम्^१) कर्म-फलों के भोगने वाले (जीवम्^२, आत्मानम्) प्राणों को धारण करने वाले जीवात्मा के (अन्तिकात्) अतिशय व्यापक होने से समीपवर्ती है, उस (भूत-भव्यस्य) भूतकाल तथा भविष्यत् काल में होने वाले जगत् के (ईशानम्) अधिष्ठाता व नियन्ता परमात्मा को (वेद) जो जानता है, वह विद्वान् (ततः) उस परमात्मा को जानने के बाद (न विजुगुप्सते) शोकादि से दूर होने के कारण निन्दा को प्राप्त नहीं होता अथवा वह फिर सांसारिक विषय-सुखों में नहीं फंसता है । (एतत्) यह परमात्मा (वै) निश्चय करके (तत्) वह तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

१. मध्वदम्=मधु=कर्म उपासनं विज्ञानं वा (यजु० ३७।१३ महर्षि-दयानन्दभाष्ये) मधु=कर्मफलम् अन्ति=भुङ्क्ते यस्तं जीवात्मानम् ॥

२. जीवम्=‘जीव प्राणधारणे’ धातो रूपम् ।



भावार्थ—जीव-ब्रह्म की भिन्नता का वर्णन करते हुए इस श्लोक में स्पष्ट रूप से कहा है कि जीवात्मा मध्वदम्=अपने कर्मों के फलों का भोक्ता है और परमात्मा कर्म-फल को देने वाला, जीवात्मा के अत्यन्त समीप तथा सब जगत् का नियन्ता है। अतः साक्षी भोक्ता तथा व्यापक-व्याप्य के भेद से ब्रह्म व जीव भिन्न-भिन्न हैं। जो विद्वान् ब्रह्म के इस सूक्ष्मतम स्वरूप को समझ लेता है, उसको किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। अतः वह अज्ञान-मुक्त कार्यों को करने से सर्वत्र प्रशंसा को ही प्राप्त होता है, निन्दा को नहीं।

और यहां जीवात्मा को मध्वदम्=मधु कर्मफल का भोक्ता कहा है। मधु की व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मण में लिखा है—ओषधीनां वाऽएष परमो रसो यन्मधु। (श० ११।५।४।१८) अर्थात् ओषधियों के रस को 'मधु' कहते हैं। ओषधियों के रस के सदृश कर्मफल को यहां 'मधु' शब्द से कहा गया है। क्योंकि दोनों का भोग किया जाता है।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य लिखते हैं—

किञ्च यः कश्चिदिदं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारम् आत्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छति।' अर्थात् जो कोई इस कर्मों के फलों के भोक्ता जीवात्मा को, जो प्राणादि को धारण करने वाला है, समीपता से जानता है, और भूत-भविष्यदादि तीनों कालों में शासन करने वाला है या स्वामी है, उसको जानने के पश्चात् अपने आत्मा को छिपाने की इच्छा नहीं करता। स्वामी-शङ्कर की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि जीवात्मा कर्म-फल का भोक्ता है और परमात्मा उसके कर्मों को सर्वज्ञता से जान लेता है। भोक्ता नहीं तथा वह तीनों कालों का स्वामी है। इससे जीव-ब्रह्म के भेद का स्पष्ट बोध हो रहा है। जीवात्मा कर्मफल भोक्ता है और परमात्मा व्यापक भाव से उसके समीप रहकर जीवात्मा के कर्मों को जान कर कर्मों का फल देता है। अतः भोक्ता-साक्षी ज्ञाता-ज्ञेय तथा व्यापक-व्याप्य के भेद से जीव-ब्रह्म दो भिन्न-भिन्न सत्ताएं हैं। वेद में इसी सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन करते हुए लिखा है—

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद् युष्माकमन्तरा बभूव ॥

अर्थात् हे मनुष्यो ! तुम उस परमात्मा को नहीं जानते, जिसने इस

सृष्टि के समस्त पदार्थों को बनाया है। वह तुम्हारे से भिन्न होकर भी तुम्हारे अन्दर व्यापक हो रहा है।

इस श्लोक की व्याख्या में 'विजुगुप्सते' क्रिया का अर्थ शाङ्करभाष्य में असङ्गत किया है। 'परब्रह्म को जानने वाला अपने आत्मा को छिपाना नहीं चाहता।' इस अर्थ से यद्यपि शङ्कराचार्य जीव-ब्रह्म को एक बताने का यत्न कर रहे हैं, किन्तु इस पद (विजुगुप्सते) में इच्छार्थ में सन् प्रत्यय नहीं है। यहां व्याकरण के अनुसार निन्दा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय होता है। शाङ्कर-भाष्य में इस नियम की उपेक्षा की गई है।

अब फिर प्रकारान्तर से परब्रह्म का वर्णन करते हैं—

यः पूर्व तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत ॥ एतद्वै तत् ॥४।६॥

पदार्थ—(यः) जो परमात्मा (अद्भ्यः^१) सृष्टि-रचना से पूर्व जो पञ्चभूतों के सूक्ष्म परमाणुओं में सर्वप्रथम एक व्यापक हलचल पैदा होती है, उस अप् तत्त्व से (पूर्वम्) पहले (अजायत^२) प्रसिद्ध था और (तपसः^३) अनन्त सामर्थ्य से उत्पन्न जगत् से (पूर्वम्) पहले (जातम्) प्रसिद्ध था और (यः) जो विद्वान् पुरुष (गुहाम्) सब जीवों की हृदयरूप गुफा में (प्रविश्य) प्रवेश करके (तिष्ठन्तम्) स्थित उस परमात्मा को (भूतेभिः) पञ्चभूतमय इस संसार के साथ व्याप्त (व्यपश्यत) विशेषरूप से देखता है=जानता है (एतत्) यह परमात्मा (वै) निश्चय से (तत्) वह तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता ! जानना चाहते हो।

भावार्थ—परमात्मा के अविनश्वर-स्वरूप तथा उसकी व्यापकता का वर्णन करते हुए इस श्लोक में कहा है कि वह परमात्मा प्रलय में जब कि सब कार्य पदार्थ अपने-अपने कारणों में लीन हो जाते हैं उस समय में भी विद्यमान रहता है। सृष्टि की रचना के प्रारम्भ में जो प्रकृति में सर्वप्रथम गति होती है, उसका कर्ता भी वही ईश्वर है और जो चेतन

१. देखिए मनुस्मृति में —“अप एव ससर्जादौ” (मनु० १।८) अर्थात् परमात्मा ने सब से पहले 'अप्' तत्त्व को उत्पन्न किया।

२. वेद में कहा है—हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ॥ (यजु०)

३. 'तपसः=अनन्तसामर्थ्यात्' (पञ्चमहायज्ञविधौ—'ऋतं च सत्यं चे' ति मन्त्रभाष्ये महर्षिदयानन्दकृते)

जीवात्मा के शरीरस्थ निवास-स्थान हृदय में भी व्यापक भाव से स्थित है उस सृष्टिकर्ता परमात्मा को विद्वान् पुरुष अपने अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक जानते हैं ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—‘यः कश्चिन् मुमुक्षुः पूर्वं तपसो ज्ञानादिलक्षणब्रह्मण इत्येतत् जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् ।’ यहां ब्रह्म की भी उत्पत्ति तथा उसका विकार मानकर शङ्कराचार्य ने भ्रान्त व्याख्या की है क्योंकि ब्रह्म अज-अजन्मा, सनातन तथा अविकारी सत्ता है । अथवा उनका यह आशय है कि ब्रह्म उत्पन्न नहीं, हुआ अपितु हिरण्यगर्भ की उत्पत्ति हुई तो भी ठीक नहीं है । यह ‘हिरण्यगर्भ’ क्या ब्रह्म से भिन्न है ? भिन्न मानने पर अद्वैतवाद की प्रतिज्ञा भंग हो जायेगी और मूल श्लोक से भी विरोध होता है । श्लोक में कहा है वह सब हृदयरूप गुफाओं में भी प्रविष्ट है और प्रकरण ब्रह्म का है । यह हृदयों में व्यापक ब्रह्म ही है, हिरण्यगर्भादि नहीं । अतः उनकी व्याख्या मिथ्या है ।

अब परब्रह्म देवता की प्राप्ति का उपाय वर्णन करते हैं—

या प्राणेन सम्भवत्यदितिर्देवतामयी ।

गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं यो भूतेभिर्यजायत ॥ एतद्वै तत् ॥४७॥

पदार्थ—(या) जो (अदितिः) अखण्डिता=कभी नष्ट न होने वाली (देवतामयी^१) दिव्यसुखप्रद उपासनीय परमात्मदेवता है, वह (प्राणेन^२) प्राणायाम के द्वारा अन्तःकरण के शुद्ध होने से (सम्भवति) हृदयाकाश में प्रकट होती है और (यः) जो विद्वान् (गुहाम्) हृदयाकाश में (प्रविश्य) प्रवेश करके (तिष्ठन्तीम्) स्थित उस देवता को (भूतेभिः) पञ्चमहाभूतों की रचना से (व्यजायत) विशेष रूप से प्रकट करता है। अर्थात् जाना जाता है (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्मतत्त्व

१. देवतामयी=देव एवं देवता । देव शब्दात् स्वार्थे तल् प्रत्ययः । ततः प्रकृतवचने=प्राचुर्येण प्रस्तुतेऽर्थे मयट् । स्त्रियां ङीप् ।

२. प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण हो जाते हैं, इस विषय में मनु जी का प्रमाण—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात् ॥ (मनुस्मृतिः)

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ॥

(योग० २।५२)

है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—जब परमात्मा जीवों के अन्दर भी विद्यमान है तो वह क्यों नहीं देखा व जाना जाता है ? उसका उत्तर देते हुए यहां स्पष्ट कहा है कि जीवों का अन्तःकरण जब तक मलीन है तब तक विवेकख्याति के न होने से परमात्मा का ज्ञान कदापि सम्भव नहीं है । अतः बाह्येन्द्रियों के भी सुसारथी रूप मन का संयम तथा उसमें स्थित वासनाओं का दग्ध करना परमावश्यक है । और यह कार्य प्राणायाम-विद्या से सम्भव है । प्राणायाम करने से अन्दर तथा बाह्य समस्त इन्द्रियों के मल नष्ट होने से शुद्धि होती है और विवेकख्याति की प्राप्ति होती है । उस समय अदिति=कभी नष्ट न होने वाली उपासनीय परमात्म-देवता का हृदय में आविर्भाव होता है । ऐसे अपने आत्मा में भी व्यापक परमात्म-तत्त्व को विवेकी विद्वान्-पुरुष ही जान सकते हैं ।

समीक्षा—इसकी व्याख्या में स्वामी शङ्कराचार्य लिखते हैं—‘या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद् ब्रह्मणः सम्भवति.....गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् ।’ यहां भी ब्रह्म से उत्पन्न तथा भिन्न हिरण्यगर्भ को हृदयरूप गुफा में स्थित स्वीकार किया है । यह भी ब्रह्म का प्रकरण होने से शाङ्करभाष्य की भ्रान्त व्याख्या है । जिसको यहां अदिति=कभी नष्ट न होने वाली तथा हृदयों में व्यापक कहा है वह ब्रह्म से भिन्न कोई दूसरी सत्ता नहीं हो सकती । और उन्होंने यहां यह भी नहीं विचार किया कि जो हिरण्यगर्भरूप देवता पैदा हो रही है, वह अदिति=अविनाशिनी कैसे हो सकती है ? यहां शङ्करस्वामी ने ‘प्राणेन सम्भवति’ शब्दों के अर्थों पर भी ध्यान नहीं दिया । पाठक इसकी सुसङ्गत व्याख्या पदार्थ में देखें ।

अब परब्रह्म के व्यापक रूप को बताकर उसी को उपासनीय देव कथन करते हैं—

अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः ।

दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः ॥

एतद्वै तत् ॥४८॥

पदार्थ—(अरण्योः^१) दो अरणी=लकड़ियों में (निहितः) व्याप्त

१. अरणी=काष्ठविशेषौ (ऋ० ५।९।३ महर्षिभाष्ये)। अरण्योः= उपर्यधःस्थयोः साधनयोः। (ऋ० ३।२९।२। महर्षिभाष्ये) ।

भावावर्ध—वह परमात्मा लकड़ियों में व्याप्त भौतिकाग्नि के व्यापक है । किन्तु जैसे काष्ठ=लकड़ियों के मन्थन के विना अग्नि प्रकट नहीं हो सकती, वैसे ही वह व्यापक परमात्मा योगाङ्गों अनुष्ठान के विना नहीं जाना जा सकता । और जैसे गर्भाशय में गर्भ का स्त्रियां विशेष यत्न से मन लगाकर धारण-पोषण करती है, वैसे ही परमात्मा का संयमी मन से प्रतिदिन तथा प्रतिक्षण अच्छी ध्यान से धारण करना होता है । उस परमात्मा की सतत जागरूकता तथा सात्त्विक बुद्धि से अनवरत उपासनादि के द्वारा ही प्राप्ति है, अन्यथा नहीं । और अग्नि एक सर्वप्रकाशक परमात्मदेव की ही मनुष्यों को उपासना करनी चाहिए ।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति ।

तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तद् नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥४१॥

(सं० वि० य० १३।४ मन्त्रभाष्ये)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहः० ॥ (ऋ० १।१६४।४६)

पदार्थ—(सूर्यः) यह भौतिक सूर्य (यतः) जिस ईश्वर के नियम अथवा जिसके दिये प्रकाश से (उदेति) उदय होता है (च) और (यत्र) जिसमें प्रलयावसर पर (अस्तम्) लीन भाव को (गच्छति) प्राप्त हो जाता है, (तम्) उस परमेश्वर को (सर्वे, देवाः) सभी सूर्यादि देव तथा विद्वान् मनुष्य (अर्पिताः^१) प्राप्त हैं अर्थात् उस के आश्रय से ही स्थित हैं (उ) और (तत्) उस ब्रह्म के नियम का कश्चन) कोई जड़ या चेतन देव (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं करता (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्म है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—वह परमेश्वर सब जगत् का नियन्ता है । सूर्याचन्द्र-मसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।' (ऋग्वेद) के अनुसार वह ही सूर्यादि को बनाने वाला तथा धारण करने वाला है । 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः । योऽन्तरिक्षे रजसो विमानः' ॥ (यजु० ३२।६) अर्थात् उस परमात्मा ने तीक्ष्ण स्वभाव वाले सूर्य आदि तथा पृथिवी को धारण कर रक्खा है । और आकाश में वही इन लोक-लोकान्तरों को अपनी-अपनी परिधि में भ्रमण करा रहा है । उसी के नियम तथा प्रकाश से यह सूर्य उदय होता है और प्रलय के समय में अपने कारण में लीन होता है । ये सूर्यादि जड़ देव तथा विद्वान् आदि चेतन देव सभी उस परमात्मा के आश्रय से हैं^२ । उसके आश्रय के बिना किसी देव की सत्ता नहीं है और न ही इन देवों में ऐसा सामर्थ्य ही है, जो उस महादेव के शासन का कोई उल्लङ्घन कर सके । ऐसे चराचर जगत् के नियन्ता परमात्मा को वैज्ञानिक विद्वान् पुरुष ही जान सकते हैं ।

समीक्षा—यहां शाङ्कर-भाष्य में व्याख्या इस प्रकार की है—यतश्च यस्मात् प्राणाद् उदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहन गच्छति, तं प्राणमात्मानं देवाः सर्वे अग्न्यादयोऽर्पिताः—सोऽपि ब्रह्मैव ॥” अर्थात् जिस प्राण से सूर्य निकलता है और जिसमें प्रतिदिन अस्त होता है, उस में ही सब अग्नि आदि देव अर्पित हैं, वह भी ब्रह्म ही है । यहां प्राण से सूर्योत्पत्ति, प्राण में सूर्यास्त होना तथा प्राण को ही ब्रह्म मानना आदि भ्रान्त व्याख्या है । क्योंकि ब्रह्म का प्रकरण होने से

१. अर्पिताः=‘ऋ गतौ’ धातोः स्वार्थे णिचि निष्ठायां रूपम् ।

२. कठो० (५।१५) में इसको और स्पष्ट करके कहा है—
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

सूर्यादि का नियन्ता भी ब्रह्म ही है । श्लोक में प्राणादि शब्दों के न होने पर भी उनकी कल्पना करना ठीक नहीं है ।

अब उस परमात्मा की एकता का प्रतिपादन करते हैं—

यद् एवेह तद् अमुत्र यद् अमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥४१०॥

पदार्थ—(यत्) जो ब्रह्म (इह) इस लोक में है (तत्, एव) वह ही (अमुत्र) परलोक में या जन्मान्तर में धारक, पालक, प्रकाशक तथा नियन्ता है और (यत्) जो ब्रह्म (अमुत्र) परलोक में है (तत्) वह (इह, अनु^१) इस लोक में भी वैसा ही है । (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म के विषय में (नाना, इव) विभिन्नता की तरह अनेकता (पश्यति) देखता है (सः) वह अज्ञानी होने से (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को अर्थात् बार-बार जन्म-मरण के महा दुःख को (आप्नोति) प्राप्त होता है। महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक को उद्धृत करके निम्नलिखित विचार प्रकट करके ईश्वर की एकता का प्रतिपादन किया है—

(क) “बहुत से आजकल के आर्य तथा यूरोपवासी और अंग्रेज आदि कहते हैं कि प्राचीन आर्य लोग पृथिव्यादि भूतों की पूजा करते थे, बाद में वे परमेश्वर की भी पूजा करने लगे । उनका यह कहना मिथ्या है क्योंकि आर्य लोग सृष्टि के आदि से अब तक इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि शब्दों से परमेश्वर की उपासना करते थे । इसमें अनेक प्रमाण हैं।” (ऋ० भू० ५६ पृ०) (इन प्रमाणों में एक उपर्युक्त श्लोक भी प्रमाण है)

(ख) (मृत्योः स मृत्युम्) जो अनेक ब्रह्म अर्थात् दो, तीन, चार, दश, बीस, जानता है वा अनेक पदार्थों के संयोग से बना जानता है, वह वारंवार मृत्यु अर्थात् जन्म-मरण को प्राप्त होता है । क्योंकि वह ब्रह्म एक और चेतनमात्र स्वरूप ही है..... और व्यापक होने से सब में स्थिर है ।”

(ऋ० भू० मुक्तिविषयः)

भावार्थ—वह परमात्मा निर्विकार, नित्य एकरस रहने वाला तथा एक है । जैसे जीवात्मा के अवस्था भेद तथा योनि-भेद से गुण-कर्म व स्वभाव भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे परमात्मा के नहीं । इस लोक तथा परलोक का ब्रह्म एक ही है और वह सब का नियन्ता तथा पालक है।

ब्रह्म के इस सत्य स्वरूप को न समझकर अज्ञानी अथवा मिथ्याज्ञानी साम्प्रदायिक पुरुष उसे भिन्न भिन्न तथा भिन्न-भिन्न स्थानों पर रहनेवाला कहते हैं। यह उनका भ्रम है। परमात्मा में भिन्नता मानने वाले व्यक्ति सत्य-ज्ञान से बहुत दूर हैं और महा अज्ञान में निमग्न हैं। वे जन्म-मरण के जाल से कदापि छूट नहीं सकते। परमात्मा के एकत्वस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए वेद में बहुत ही स्पष्ट कहा है—(क) तदेवाग्निस्तदा-दित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः ॥ (यजु०) (ख) एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति ॥ (ऋ०) अर्थात् वह परब्रह्म एक ही है। किन्तु गुण-भेद से उसको ही विद्वान् पुरुष इन्द्र, वरुणादि भिन्न-भिन्न नामों से कहते हैं।

समीक्षा—इसकी व्याख्या में शाङ्कर भाष्य में लिखा है—‘यदेवेह कार्यकारणोपाधिसमन्वितं संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थ-ममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं ब्रह्म ।’ अर्थात् जो उपाधि सहित जीवात्मारूप इस शरीर में ब्रह्म है, वही नित्य विज्ञान स्वरूप ब्रह्म है, वह जगत् के सब धर्मों से रहित है। यह उनका कथन प्रसङ्गविरुद्ध है। क्योंकि यदि उपनिषत्कार का यह आशय होता कि जीव ब्रह्म एक ही हैं तो अगले श्लोक में (४।११) यह नहीं कहते कि मन से उसकी प्राप्ति करनी चाहिए। क्योंकि मन से प्राप्ति कहना भी तो भेददर्शन ही है। और (४।१२) में ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति’ अर्थात् वह ब्रह्म जीवात्मा में भी व्यापक भाव से स्थित है, इस कथन की सङ्गति भी शाङ्कर-भाष्य से नहीं होती। अतः पूर्वाग्रह वश ही उन्होंने यह प्रकरणविरुद्ध व्याख्या की है।

पुनः परमात्मा की प्राप्ति का उपाय तथा उसके एकत्वदर्शन का प्रतिपादन करते हैं—

मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किञ्चन ।

मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥४।११॥

पदार्थ—(इदम्) यह ब्रह्म (मनसा^१, एव) प्राणायामादि से शुद्ध

१. अन्तःकरण का नाम ही मन है। उसकी मनन करना, निश्चय करना, स्मरण करना तथा अहङ्कार करना इन चार वृत्तियों के नाम ही मन, बुद्धि, चित्त तथा अहंकार हैं। यहां से ‘मनसा’ पद का अर्थ सूक्ष्मबुद्धि (ऋतम्भरा प्रज्ञा) अर्थ का ग्रहण करना भी उपयुक्त है। क्योंकि इसी उपनिषद् में अन्यत्र भी यही कहा है—‘दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्यया सूक्ष्मया०’।

हुए अन्तःकरण से ही (आप्तव्यम्) प्राप्त होने योग्य है (इह) इस ब्रह्म के विषय में (किञ्चन) कुछ भी (नाना) भेद-भाव या विभिन्नता= नानावस्तुओं का मेल (न, अस्ति) नहीं है (यः) जो पुरुष (इह) इस ब्रह्म के विषय में (नाना, इव) अनेकता अथवा नानावस्तुओं का मेल (पश्यति) देखता है=जानता है (सः) वह अज्ञानी पुरुष (मृत्योः) मृत्यु से (मृत्युम्) मृत्यु को अर्थात् बार-बार जन्म-मरणरूप महादुःख को (गच्छति) प्राप्त होता है ।

भावार्थ—परब्रह्म की प्राप्ति का एक ही उपाय है—शुद्ध मन से परब्रह्म का ध्यान करना (योगदर्शन में भी योग की परिभाषा करते हुए लिखा है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।’ अर्थात् मन की वृत्तियों के निरोध का नाम ही योग है । और ध्यान का स्वरूप बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि ‘ध्यानं निर्विषयं मनः’ अर्थात् मन को सब विषयों से पृथक् करके परमेश्वर के गुण चिन्तन को ही ध्यान कहते हैं । ‘तज्जपस्तदर्थभावना।’ (योग०) मन की वृत्तियों को रोककर उन्हें परमेश्वर के मुख्य नाम ‘ओम्’ के जप में लगाना तथा उसके अर्थ का चिन्तन करना ही परमयोग है । अतः मुमुक्षु को मन की शुद्धि तथा संयम के लिए अनवरत प्रयत्न करना चाहिए । जो व्यक्ति परब्रह्म की प्राप्ति या उपासना के नाम पर बाह्य मूर्तिपूजादि में ध्यान का उपदेश करते हैं, उनकी मान्यता उपनिषद् विरुद्ध तथा मिथ्या होने से माननीय नहीं हो सकती ।

और इस श्लोक में यह भी स्पष्ट किया गया है कि इस जगत् का नियन्ता परमेश्वर एक ही है और वह निर्विकार अखण्डैकरस है । अर्थात् उस परमेश्वर का न तो कोई कारण है और न कोई उसका कार्य है । जैसे यह जगत् प्रकृति का कार्य है, प्रकृति उसका उपादान कारण है, वैसे परमेश्वर किन्हीं वस्तुओं के मेल से नहीं बना है वह एक शाश्वत तथा कूटस्थ चेतन सत्ता है । उस परमेश्वर के विषय में जो विवेकशून्य व्यक्ति अन्यथा जानता है अर्थात् ब्रह्म को एक न मानकर अनेक मानता है और ब्रह्म में अनेक वस्तुओं का मेल समझता है, वह अज्ञानी है और वह मृत्युदुःख से कभी मुक्त नहीं हो सकता ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक के एक अंश की व्याख्या इस प्रकार की है—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन । (कठोप०)

अर्थ—यह भी उपनिषद् का वचन है । जो यह जगत् है, वह सब निश्चय करके ब्रह्म है । उसमें दूसरे नाना प्रकार के पदार्थ कुछ भी नहीं किन्तु सब ब्रह्मस्वरूप है ।

(उपर्युक्त उपनिषद् का उद्धरण प्रश्न के रूप में है । उसका उत्तर देते हुए स्वामी जी कहते हैं)

क्यों इन वचनों का अनर्थ करते हो क्योंकि उन्हीं उपनिषदों में—
अन्नेन सौम्य शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छ अद्भिः सौम्य शुङ्गेन तेजोमूल-
मन्विच्छ तेजसा सौम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सौम्येमाः प्रजाः
सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥ (छान्दोग्य उपनि०)

हे श्वेतकेतो ! अन्नरूप पृथिवी कार्य से जल रूप मूल कारण को तू जान, कार्यरूप जल से तेजोरूप मूल और तेजोरूप कार्य से सद्रूप कारण जो नित्य प्रकृति है उसको जान । यही सत्यस्वरूप प्रकृति सब जगत् का मूल घर और स्थिति का स्थान है यह सब जगत् सृष्टि के पूर्व असत् के सदृश और जीवात्मा, ब्रह्म और प्रकृति में लीन हो कर वर्तमान था । अभाव न था और जो (सर्व खलु०) यह वचन ऐसा है जैसा कि “कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुनबा जोड़ा” ऐसी लीला का है । क्योंकि—

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । (छान्दोग्य)

और “नेह नानाऽस्ति किञ्चन” यह कठवल्ली का वचन है—जैसे शरीर के अङ्ग जब तक शरीर के साथ रहते हैं तब तक काम के और अलग होने से निकम्मे हो जाते हैं, वैसे ही प्रकरणस्थ वाक्य सार्थक और प्रकरण से अलग करने या किसी अन्य के साथ जोड़ने से अनर्थक हो जाते हैं । सुनो ! इसका अर्थ यह है—हे जीव ! तू ब्रह्म की उपासना कर जिस ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और जीवन होता है जिसके बनाने और धारण करने से यह सब जगत् विद्यमान हुआ है या ब्रह्म से सहचरित है, उसको छोड़ दूसरे की उपासना न करनी । इस चेतनमात्र अखण्डैकरस ब्रह्म स्वरूप में नाना वस्तुओं का मेल नहीं है । किन्तु ये सब पृथक्-पृथक् स्वरूप में परमेश्वर के आधार में स्थित हैं ।

(सत्यार्थ० १७३, १७४)

अब जीवात्मा के मध्य परमात्मा की व्यापकता और प्राप्तिस्थान का कथन करते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः^१ पुरुषो^२ मध्य आत्मनि तिष्ठति ।

ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते ॥ एतद्वै तत् ॥४॥१२॥

पदार्थ—(भूत-भव्यस्य) भूतकाल में और भविष्यत्काल में होने वाले सभी पदार्थों का ईशानः (स्वामी) या अध्यक्ष (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठ मात्र हृदयदेश में प्रापणीय होने से अङ्गुष्ठमात्र (पुरुषः) सब जगत् में व्यापक परमात्मा (आत्मनि) जीवात्मा के (मध्ये) अन्दर (तिष्ठति) अपनी सत्ता से स्थित है (ततः) उसको जानने के बाद (न, विजुगुप्सते) कोई भी पुरुष अज्ञान में ग्रस्त न होने से निन्दित नहीं होता (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्म तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता! तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—इस श्लोक में जीव-ब्रह्म के भेद को बहुत ही स्पष्ट कर दिया है ब्रह्म को पुरुष तथा आत्मा शब्द से जीवात्मा को पृथक् कहा गया है अर्थात् ब्रह्म अत्यन्त-सूक्ष्म होने से जीवात्मा के अन्दर भी

१. अङ्गुष्ठमात्रः=अंगूठे के बराबर हृदयरूप घर में जहां सूक्ष्मशरीर सहित जीवात्मा रहता है, वही ब्रह्मपुर कहाता है । वहीं ध्यान करने से परमेश्वर की प्राप्ति होती है, इसलिए अङ्गुष्ठमात्र स्थान में प्राप्त होने से यहां परमेश्वर को अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है । जैसे—इन्द्रार्था स्थूणा को 'इन्द्र' कहकर भी व्यवहार होता है । (इस पर महर्षि दया० के विचार कठो० ३।१ की व्याख्या पढ़िए ।)

वेद में अत्यतिष्ठद् दशाङ्गुलम्' (यजु० ३१।१) दशाङ्गुल शब्द का प्रयोग हृदय के लिए आता है । महर्षि इसकी व्याख्या में लिखते हैं—'दशाङ्गुल शब्द ब्रह्माण्ड और हृदय का वाची है । अङ्गुलि शब्द अङ्ग का अवयव वाची है । पांच स्थूलभूत और पांच सूक्ष्मभूत ये दोनों मिलके जगत् के दश अवयव होते हैं तथा पांच प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये चार और दशमा जीव और शरीर में जो हृदय देश है, सो भी दश अङ्गुल के प्रमाण से लिया जाता है ।”

(ऋ० भू० सृष्टिविद्या० ९५ पृ०)

२. यहां 'पुरुष' शब्द परमात्मा के लिए प्रयुक्त है । (निरुक्त २।३) के प्रमाणानुसार महर्षि दयानन्द कृत व्याख्या देखिए—पुरि=सर्वस्मिन् संसारेऽभिव्याप्य सीदति वर्तत इति । (पूरयतेर्वा) यः स्वयं परमेश्वर इदं सर्वं जगत् स्वस्वरूपेण पूरयति व्याप्नोति तस्मात् पुरुषः (अन्तरिति) यो जीवस्याप्यन्तर्मध्येऽभिव्याप्य पूरयति तिष्ठति स पुरुषः ॥ (ऋ० भू० ९४)

विद्यमान है । अतः दोनों का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है । और यद्यपि ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, परन्तु उसकी प्राप्ति का एकमात्र स्थान शरीरस्थ हृदयाकाश ही है । इसी में जीवात्मा का निवास है और जहां उपासक तथा उपास्य हों, वहीं दोनों का मेल हो सकता है । बाह्य मूर्तिपूजादि ईश्वरप्राप्ति तथा उपास्य स्थल इसलिए नहीं है क्योंकि उनमें परमेश्वर उपास्य तो है, किन्तु उपासक जीवात्मा नहीं है । इस विषय में उपनिषत् की अन्य साक्षी भी देखिए—

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मि-
न्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥
(छान्दोग्योप० प्रपा० ८। मं० १) इसकी व्याख्या में महर्षि दयानन्द लिखते हैं—‘कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं, उसके बीच में जो गर्त है, उसमें कमल के आकार वेश्म अर्थात् अवकाश रूप एक स्थान है और उसके बीच में जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा बाहर भीतर एकरस होकर भर रहा है, वह आनन्दस्वरूप परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । दूसरा उसके मिलने का कोई उत्तम स्थान वा मार्ग नहीं है ।’ (ऋ० भू० उपासनाविषयः)

और परब्रह्म को यहां ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः’ भी हृदयस्थ अङ्गुष्ठमात्र स्थान में ही वह उपासनीय तथा सुलभ होने से कहा गया है । जैसे तादर्थ्य न्याय से ‘इन्द्रार्था स्थूणा’ को इन्द्र कहा जाता है । वैसे ही यहां प्रयोग किया गया है । परमेश्वर तो सर्वत्र व्यापक होने से अङ्गुष्ठमात्र कदापि नहीं है और इसी हृदयस्थाकाश में विद्यमान जीवात्मा को परमात्मा अच्छे कामों के लिए प्रोत्साहन देता है और बुरे कामों के लिए सावधान भी करता है । जब कोई पुरुष बुरे कार्य में प्रवृत्त होता है तो उसके हृदय में भय, शङ्का तथा लज्जा पैदा हो जाती है, और अच्छे काम में लगने पर उत्साह तथा हर्ष होता है, यह परमात्मा की प्रेरणा सर्वजन सुलभ होने से प्रत्यक्ष जानने योग्य है । जो मुमुक्षु उस परमेश्वर के इस उपासनीय स्थल को तथा परमेश्वर के सर्वनियन्ता रूप को जानता है, वह दुष्कर्मों से बचने के कारण कहीं भी निन्दित अथवा अपयश का भागी नहीं होता ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में श्री शङ्कराचार्य लिखते

हैं—अन्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति' अर्थात् अन्तःकरण उपाधि से युक्त पुरुष शरीर के मध्य स्थित है । यहां उनका अभिप्राय यह है कि ब्रह्म ही सोपाधिक होकर जीव रूप में शरीर में स्थित है । यह उनकी व्याख्या मूल श्लोक से विरुद्ध होने से मिथ्या है । इसमें परमात्मा का ही वर्णन है, क्योंकि वह ही सर्वत्र पूर्ण होने से पुरुष और भूत-भविष्यत् का स्वामी है, जीवात्मा नहीं । व्यापक परमात्मा को अङ्गुष्ठमात्र कहने का अभिप्राय भावार्थ में स्पष्ट कर दिया है । नवीन वेदान्तियों की यह कल्पना मिथ्या है कि ब्रह्म ही सोपाधिक होने से अङ्गुष्ठमात्र और निरुपाधिक रूप से वही ब्रह्म भूत-भव्य का ईश्वर है । शुद्ध ब्रह्म में उपाधि का होना कदापि सम्भव नहीं है और यह उपाधि जिसका मूल उपनिषद् में वर्णन ही नहीं है, क्या वस्तु है ? यदि यह ब्रह्म से भिन्न है तो अद्वैतवाद का खण्डन होता है और यदि उपाधि ब्रह्म के अन्तर्गत अथवा उसी का भाग है तो वह ब्रह्म से कदापि भिन्न नहीं हो सकती । फिर तो शुद्ध ब्रह्म कभी भी नहीं रह सकता । स्वामी शङ्कर की व्याख्या मूलोपनिषद् के विरुद्ध इसलिए भी है कि इससे अगले श्लोक (४।१३) में ब्रह्म को नित्य कूटस्थ कहा है। वह सदा एकरस रहने से ही कूटस्थ कहलाता है । जैसा आज है, वैसा ही कल रहेगा । और आगे ब्रह्म को धूम-रहित ज्योति के समान कहा है । यदि ब्रह्म में उपाधि का योग होता हो तो वह कूटस्थ तथा अधूमक ज्योति कदापि नहीं हो सकता । (४।१३) की व्याख्या में शङ्कर-स्वामी ने ब्रह्म को नित्य कूटस्थ मानकर भी यहां उस की ही सोपाधि-जीवरूप से व्याख्या की है । यह परस्पर विरुद्ध होने से भी प्रमत्त प्रलापवत् है। अतः माननीय नहीं हो सकती ।

अब परमात्मा के शुद्ध स्वरूप तथा जगत् के शाश्वत-शासक स्वरूप का वर्णन करते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो^१ ज्योतिरिवाधूमकः ।

ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥ एतद्वै तत्॥४।१३

पदार्थ—(अङ्गुष्ठमात्रः) वही अंगूठाभर हृदय देश में प्राप्त होने

१. 'अङ्गुष्ठमात्रः', तथा 'पुरुषः' दोनों पदों की विशेष व्याख्या (कठो० ४।१२ की व्याख्या में) देखिये ।

वाला (पुरुषः) ब्रह्माण्ड, हृदय देश और जीवात्मा में भी व्यापक परमात्मा (भूत-भव्यस्य) भूतकालीन और भविष्यत्कालीन सभी पदार्थों का (ईशानः) स्वामी है और वह (अधूमकः) धूम-रहित होने से स्वच्छ (ज्योतिः इव) ज्योति के समान निर्भ्रान्त ज्ञान-प्रकाशस्वरूप है । (स, एव) वह ही (अद्य) आज जैसा है (सः, उ, श्वः) वह निश्चय से वैसा ही कल रहेगा (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह ब्रह्मतत्त्व है, जिसे हे नचिकेता तुम जानना चाहते हो ।

भावार्थ—इस श्लोक में भी जीवात्मा से ब्रह्म को भिन्न बताते हुए यह स्पष्ट किया है कि ब्रह्म धूमरहित ज्योति के समान सभी प्रकार की उपाधियों से रहित प्रकाशस्वरूप है । जो नवीन वेदान्ती यह मानते हैं कि जीव-ब्रह्म एक ही हैं । ब्रह्म ही अविद्या की उपाधि के कारण जीव बन जाता है । यह उनकी मान्यता उपनिषत् के सर्वथा विरुद्ध है । क्योंकि जो उपाधियुक्त हो सकता है, वह धूमरहित ज्योति के तुल्य स्वच्छ तथा प्रकाशमान कैसे हो सकता है ? अधूमक-ज्योति के दृष्टान्त से स्पष्ट है कि परब्रह्म तीनों कालों में निरुपाधि ही रहता है । और जैसे लोक में शासक बदलते रहते हैं अथवा निर्बल राजा को पराजित करके बलवान् राजा शासक बन जाता है, वैसा परब्रह्म नहीं है । वह तो भूतकाल में भी सब जगत् का एकमात्र शासक था और भविष्य में भी वही रहेगा । वही ब्रह्म आज शासक है तो कल भी रहेगा । वह ब्रह्म तीनों कालों में एकमात्र तथा एकरस होकर शासन कर रहा है । यदि वह उपाधिवश कभी जीव बन जाए तो अप्रत्यक्ष व एकदेशी होने से उतने काल तक जगत् का शासक न रह सके । अतः नवीन-वेदान्तियों की मान्यता उपनिषत् के सर्वथा विपरीत होने से मिथ्या है ।

समीक्षा—उपनिषत्कार ने यहां ब्रह्म को धूम-रहित ज्योति के समान शुद्ध तथा उपाधिरहित बताया है और यह भी कि वह ब्रह्म नित्य है तथा कूटस्थ=सदा एकरस रहने वाला है । जैसा आज है, वैसा ही कल भी रहेगा । इससे स्पष्ट है कि वह ब्रह्म कभी उपाधि से युक्त नहीं होता । जो उपाधि तथा निरुपाधिरूप होता है, वह कूटस्थ भी नहीं हो सकता । अतः नवीन वेदान्तियों की ब्रह्म को उपाधि तथा निरुपाधि कहने की बात सर्वथा मिथ्या है और उन्होंने अपनी भ्रान्ति से ही ब्रह्म को भी उपाधि की व्याधि से निबद्ध कर अपने अज्ञान को ही प्रकट किया है ।

अब फिर एक परमात्मा के नानात्ववाद में दोष-प्रदर्शन करते हैं—

यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति ।

एवं धर्मान् पृथक् पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥४॥१४॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (पर्वतेषु) पर्वतों पर (वृष्टम्) बरसा हुआ, (उदकम्) जल (दुर्गे) दुर्गमनीय स्थान=घाटियों में अथवा विषम=ऊँचे नीचे स्थानों पर (विधावति) विशेष गति से प्रवाहित होता है, (एवम्) इसी प्रकार (धर्मान्) गुणों को (पृथक्) गुणों से भिन्न (पश्यन्) देखता हुआ (तान्, एव) उन गुणों के ही (अनुधावति) पीछे भागता है ।

भावार्थ—धर्म व धर्मी का समवाय (नित्य) सम्बन्ध होता है । नित्य धर्मी के धर्म (गुण) भी नित्य ही होते हैं । जो कोई पुरुष ऐसा कहे कि मैं कुछ भी नहीं करता किन्तु मेरा शरीर ही सब कुछ करता है, उसका यह कथन शास्त्र तथा न्याय के विरुद्ध है । अन्वयव्यतिरेक न्याय से (जिसके होने से हो और न होने से न हो, वह कार्य उसका ही कहलाता है, यही अन्वय व्यतिरेक न्याय है) चेतन के गुण शरीरादि में चेतन के बिना नहीं रह सकते । इसलिए धर्मी से धर्मों को पृथक् करके किसी पदार्थ का विवेचन नहीं किया जा सकता । प्रस्तुत प्रकरण में भी—

जो पुरुष परमात्मा के गुणों को परमात्मा से भिन्न मानकर हिरण्यगर्भादि नामों से परमात्मा में अनेकता देखता है, वह नानात्ववादी उसी प्रकार छिन्न-भिन्न हो जाता है, जैसे पर्वतों पर बरसा जल पृथक्-पृथक् धाराओं में बह जाता है ।

समीक्षा—परब्रह्म के अनन्त गुण होने से अनन्त ही नाम हैं । उसके नामों के आश्रय से एक ही ब्रह्म को जो नाना रूप में देखता है, वह विषम प्रदेशों में बरसे जल की भाँति ही प्रवाहित हो जाता है अर्थात् जन्म-मरण के प्रवाह से नहीं छूटता । श्लोक के इस भाव को न समझकर नवीन वेदान्तियों की यहां यह व्याख्या^१ मिथ्या है कि जो जीव-ब्रह्म को भिन्न-भिन्न मानता है, वह बराबर शरीर-भेदों को ही

१. एवं धर्मानात्मनोऽभिन्नान् पृथक् पश्यन् पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यं-
स्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनुधावति । (शाङ्करभाष्यम्)

प्राप्त होता रहता है । यह उनका कथन प्रकरण तथा मूल श्लोक से विरुद्ध होने से मान्य नहीं हो सकता । यहां प्रकरण ब्रह्म का है, जैसे बार-बार कहा गया है कि 'मनसैवेदमाप्तव्यम्' 'ईशानो भूतभव्यस्य' 'य इह नानेव पश्यति' । इत्यादि ब्रह्म के धर्मों में जो नानात्व देखता है, वह जन्म-मरण के प्रवाह से नहीं छूटता । इस सत्यार्थ के स्थान में जीव-ब्रह्म के भेद को लेकर स्वेच्छा से अर्थ करना ठीक नहीं । क्योंकि यहां ब्रह्म के साथ जीव को जोड़ने का प्रसङ्ग ही नहीं है । यहां तो ब्रह्म के एकत्व का वर्णन है जीव-ब्रह्म की एकता का नहीं ।

परमेश्वर की उपासना का फल किसको मिलता है—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।

एवं मुने विजानतः आत्मा भवति गौतम ॥४॥१५॥

पदार्थ—(गौतम^१) हे गौतम=स्तुति करने वाले के पुत्र नचिकेता ! (यथा) जैसे (शुद्धे) शुद्ध पात्र में (शुद्धम्) निर्मल (उदकम्) जल (आसिक्तम्) डाला हुआ (तादृक्, एव) वैसा ही शुद्ध (भवति) होता है (एवम्) इसी प्रकार (विजानतः) विज्ञानयुक्त (मुनेः) मननशील पुरुष का (आत्मा) आत्मा (भवति) होता है ।

भावार्थ—यमाचार्य कहते हैं कि हे नचिकेता ! शुद्ध पात्र में डाला गया जल पूर्ववत् शुद्ध ही रहता है, इसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण वाला विज्ञानी पुरुष का आत्मा शुद्ध तथा शान्त ब्रह्म की उपासना से शुद्ध व शान्त हो जाता है अर्थात् उपासक अपने उपास्य के गुणों को धारण करके पवित्र हो जाता है । इस से स्पष्ट है कि जिसका अन्तःकरण मलीन है वह कदापि परमेश्वर की उपासना का अधिकारी नहीं हो सकता और नहीं वह परमेश्वर के गुणों को धारण कर सकता है । अतः परमेश्वर की उपासना का फल उसी पुरुष को ही मिल सकता है । जो पवित्रान्तःकरण वाला होकर परमेश्वर की उपासना करता है । और परमेश्वर की उपासना का फल है कि उसके गुणों को धारण करके शुद्ध व शान्त होना । जिसका अन्तःकरण तो मलीन है किन्तु बाह्य दिखावे के लिए ईश्वर का भक्त बना रहता है, वह कदापि ईश्वर को प्राप्त नहीं

१. गौतम=गौतमस्यापत्यम् ! गौतमः=गौरिति स्तोतृ नाम (निघं० ३।१६) अतिशयेन गौः=गौतमः अतिशयेन स्तोता परमेश्वरस्य ।

कर सकता । क्योंकि ईश्वर की प्राप्ति का मुख्य उपाय शुद्धान्तःकरण है । सब मुमुक्षु जनों को एतदर्थ ही परम-पुरुषार्थ करना चाहिए ।

समीक्षा—यहां श्री शङ्कराचार्य जी लिखते हैं—‘यथोदकं शुद्धं प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवति, आत्माप्येवं भवति ।’ अर्थात् जैसे शुद्ध जल में डाला हुआ शुद्ध जल एक जैसा ही होता जाता है, इसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्म हो जाता है । यह उनकी व्याख्या सत्य नहीं है । जीव-ब्रह्म जल की भांति समान गुण वाले नहीं हैं । जीव अल्पज्ञ, एकदेशी, अल्प सामर्थ्यवाला तथा इच्छादि गुणों वाला है और ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा इच्छादि गुणों से रहित है । दोनों चेतन होते हुए भी विलक्षण स्वभाव वाले हैं । अतः शुद्ध जल की उपमा शाङ्कर-व्याख्या में संगत नहीं हो सकती । अतः उपमान उपमेय भाव को न समझकर उन्होंने असङ्गत व्याख्या की है । और श्लोक में स्पष्टरूप से कहा है कि विज्ञानयुक्त योगी तादृगेव—वैसा ब्रह्म के सदृश हो जाता है, ब्रह्म नहीं । यहां समानता भी पूर्णतः नहीं समझनी चाहिए, क्योंकि जीव ब्रह्म कभी नहीं हो सकता । अन्यथा ‘ब्रह्मैव भवति’ कह देते । योगी पवित्रान्तःकरण वाला होकर ब्रह्म के कुछ गुणों को धारण करने से उस समय ब्रह्म के सदृश हो जाता है, इस व्याख्या को न समझकर जीव ब्रह्म हो जाता है, यह कथन मूल के विरुद्ध है । क्योंकि मोक्ष में भी जीव ब्रह्म से भिन्न ही रहकर मोक्षानन्द का भोग करता है, ब्रह्म में लय नहीं होता । अन्यथा जीव का ब्रह्म में जल की भांति लय मानने पर मोक्ष के आनन्द को कौन भोगेगा ? और फिर ऐसे प्रलयात्मक मोक्ष के लिए कौन प्रयास करेगा ?

इति कठोपनिषद्भाष्ये चतुर्थी वल्ली समाप्ता ॥



अथ कठोपनिषद्-भाष्ये पञ्चमी वल्ली

अब जीवात्मा का बन्धन रूप शरीर-नगर से मुक्ति का उपाय कहते हैं—

पुरम् एकादशद्वारम् अजस्यावक्रचेतसः ।

अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते ॥ एतद्वै तत् ॥

(५।१)

पदार्थ—(अवक्रचेतसः) कुटिलताचरण से रहित मन वाले (अजस्य) अजन्मा जीवात्मा का (एकादश^१ द्वारम्) ग्यारह दरवाजे वाला (पुरम्) शरीर रूपी नगर है, इसका (अनुष्ठाय) भिन्न-भिन्न आश्रमों में शास्त्रविधानानुसार श्रेष्ठ कर्मों का अनुष्ठान करके सेवन करने वाला पुरुष (न, शोचति) शोकादि दुःखों से दुःखी नहीं होता (च) और (विमुक्तः) दुःखों से तथा तीनों ऋणों से जब छूट जाता है, तब (विमुच्यते) मुक्त हो जाता है । (एतद्) यही (वै) निश्चय करके (तत्) ब्रह्म-ज्ञान का फल है ।

भावार्थ—इस श्लोक में मोक्षार्थी के लिए मोक्ष प्राप्त करने के कर्तव्यों का वर्णन किया गया है । योगी पुरुष को सर्वप्रथम मानसिक शुद्धि करनी चाहिए । जब तक मन शुद्ध नहीं है, उसमें पापाचरण की प्रवृत्ति या पाप-वासनाएँ विद्यमान हैं, तब तक मोक्षार्थी आगे नहीं बढ़ सकता । और योगी पुरुष को अपने आश्रमों के अनुसार कर्तव्यों का पालन भी करना चाहिए । कर्तव्यविहीन व्यक्ति को सुख व शान्ति मिल नहीं सकती और मन अशान्त ही बना रहेगा । और मोक्षार्थी को पितृऋणादि ऋणों से भी मुक्त होना चाहिए । ऋणी मनुष्य जैसे चिन्तित व दुःखी रहता है, वैसे ही विना ऋण चुकाये योगी का मन शान्त नहीं रहेगा। अतः मोक्ष प्राप्त करनेवाले पुरुष को पवित्रान्तःकरण वाला, कर्तव्यमुक्त व ऋणमुक्त अवश्य होना चाहिए ।

१. एकादश द्वार शरीर में निम्न हैं—२ आंखों, २ कानों, २ नाकों, १ मुँह का, २ गुदा तथा लिंग के, १ नाभि का तथा १ ब्रह्मरन्ध्र (मस्तक में) का, ये ११ छिद्र ही इस शरीर में जीवात्मा के द्वार हैं ।

अब जीवात्मा की विभिन्न योनियों की दशाओं का वर्णन करते हैं ।

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्भोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत् ।

नृषद्वरसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्बृहत् ॥५॥२॥

पदार्थ—(हंसः) एक शरीर से दूसरे शरीर में जानेवाला अथवा दुःखों को नष्ट करने वाला (शुचिषत्) पवित्र व्यवहारों या पवित्र परमेश्वर में स्थित होने वाला (वसुः) शरीरादि में वास करनेवाला (अन्तरिक्षसत्) हृदयरूप अवकाश में स्थित अथवा मोक्ष में अन्तरिक्ष में विचरने वाला (होता) यज्ञादि श्रेष्ठ कर्म करनेवाला तथा सत्य को ग्रहण करने वाला (वेदिषत्) शरीरधारी होने से पृथिवी पर रहने वाला अथवा यज्ञादि करने वाला (अतिथिः) निरन्तर जन्म-जन्मान्तरों में गमन करने वाला (दुरोणसत्) सब ऋतुओं में सुखद गृह में रहने वाला (नृषत्) मनुष्य शरीर में रहने वाला (वरसत्) जो उत्तम विद्वानों के सत्सङ्ग में रहता है (व्योमसत्) जो आकाशवत् व्यापक परमेश्वर में स्थित होता है अथवा प्रलयकाल में आकाश में रहने वाला अथवा मोक्ष-दशा में आकाश में विचरने वाला है (अब्जाः) जो अप्=प्राणों को जन्म देता है अथवा मत्स्यादि योनियों में जल में जन्म लेता है (गोजाः) जो गो=इन्द्रियों को शक्ति देकर प्रसिद्ध करता है अथवा गो=पृथिवी पर जन्म लेता है (ऋतजाः) जो ऋत=सत्यज्ञान या सत्यव्यवहार को प्रसिद्ध करता है (अद्रिजाः) जो अद्रि=मेघों को यज्ञादि के द्वारा जन्म देता है अथवा अद्रि=वृक्षादि लगाकर उन्हें जन्म देता है (ऋतम्) सत्यस्वरूप है और (बृहत्) महान् आशयवाला है ।

भावार्थ—इस श्लोक में जीवात्मा का विभिन्न योनियों में जाने आने का वर्णन है, इससे जीवात्मा की नित्यता का स्पष्ट बोध हो रहा है । स्थलचर, जलचर अथवा नभचर सभी योनियों में जीव कर्मानुसार आता जाता है और कर्मानुसार शुभाशुभ योनियों में विचरण करता है । इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद^१ में भी आता है । वहां महर्षि-दयानन्द की व्याख्या इस प्रकार है—(इस मन्त्र में परमात्मा और जीव के लक्षण कहे गये हैं)—“हे प्रजा के पुरुषो ! तुम लोग जो (हंसः) दुष्ट कर्मों का नाशक (शुचिषत्) पवित्र व्यवहारों में वर्तमान (वसुः) सज्जनों में बसने

१. यह मन्त्र यजुर्वेद (१२।१४) में अक्षरशः पठित है ।

वा उनको बसानेवाला (अन्तरिक्षसत्) धर्म के अवकाश में स्थित (होता) सत्य के ग्रहण करने और कराने वाला (वेदिषत्) सब पृथिवी वा यज्ञ के स्थान में स्थित (अतिथिः) पूजनीय वा राज्य की रक्षा के लिए यथोचित समय में भ्रमण करने वाला (दुरोणसत्) ऋतुओं में सुखदायक आकाश में व्याप्त वा घर में रहने वाला (नृषत्) सेनादि के नायकों का अधिष्ठाता (वरसत्) उत्तम विद्वानों की आज्ञा में स्थित (ऋतसत्) सत्याचरणों में आरूढ (व्योमसत्) आकाश के समान सर्वव्यापक ईश्वर वा जीवस्थित (अब्जाः) प्राणों के प्रकट करने हारा (गोजाः) इन्द्रिय वा पशुओं को प्रसिद्ध करने हारा (ऋतजाः) सत्य विज्ञान को उत्पन्न करने हारा (अद्रिजाः) मेघों का वर्षाने वाला विद्वान् (ऋतम्) सत्यस्वरूप (बृहत्) अनन्त ब्रह्म और जीव को जाने, उस पुरुष को सभा का स्वामी राजा बनाके निरन्तर आनन्द में रहो ।”

समीक्षा—इस की व्याख्या में आचार्य शङ्कर लिखते हैं—
“सर्वव्याप्येक एवात्मा जगतो नात्मभेद इति ।” अर्थात् एक सर्वव्यापी आत्मा का ही यहां वर्णन है, उसमें नामभेद होने पर आत्मभेद नहीं है । वहां एक परब्रह्म की सत्ता में ही विश्वास रखने वालों की असङ्गत व्याख्या देखिये—“अतिथिः सोमः सन् दुरोणे कलशे सीदतीति” ।

अर्थात् वह आत्मा सोम रूप में घड़े में बैठता है । और ‘अद्रिजाः=पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति ।’ अर्थात् वह आत्मा पर्वतों से नदी आदि के रूप में उत्पन्न होता है । और “गोजाः=गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायते” अर्थात् वह आत्मा पृथिवी पर व्रीहि=चावल, यव=जौ आदि के रूप में पैदा होता है ।”

क्या शङ्कराचार्य की ये व्याख्याएँ सङ्गत कही जा सकती हैं ? अद्वैतवाद=परब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता को न मानने वाले क्या यह बता सकते हैं कि वह ब्रह्म घड़े में बैठता है, नदी आदि रूप में उत्पन्न होता है, और व्रीहि आदि रूप में पृथिवी पर उत्पन्न हो सकता है ? जिस ब्रह्म को ‘अकायम्’ शरीररहित वेद में कहा है, क्या उस व्यापक ब्रह्म के साथ इन व्याख्याओं की कोई सङ्गति है ?

अब शरीर में जीवात्मा की स्थिति कहां और कैसी है, इसका कथन करते हैं—

उर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ।

मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते ॥५॥३॥



पदार्थ—जो जीवात्मा (प्राणम्) प्राणवायु को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (उन्नयति) ले जाता है (अपानम्) अपानवायु को (प्रत्यक्) हृदय-देश से नीचे (अस्यति) फैकता है, उस (मध्ये) नाभि और कण्ठ के बीच हृदयावकाश में (आसीनम्) स्थित=विराजमान (वामनम्^१) परिच्छिन्न तथा प्रशस्त जीवात्मा को (विश्वेदेवाः^२) सब इन्द्रियां (उपासते) समीपता से सेवन करती हैं ।

भावार्थ—इस शरीर में जीवात्मा मध्य=हृदयावकाश में परिच्छिन्न रूप में विराजमान रहता है । और प्राण, अपानादि सभी प्रकार के शरीरस्थ वायुओं को जीवात्मा ही गति दे रहा है । उसके समीप इन्द्रियां वैसे ही कार्य करती हैं जैसे—राजगद्दी पर बैठे राजा के दरबार में सेवक उसकी आज्ञा से कार्य करते रहते हैं । हृदयस्थ अन्तःकरण से आवृत अङ्गुष्ठमात्र स्थान ही जीवात्मा की राजधानी है और यह शरीर उसका नगर है, जिसके ११ दरवाजे (द्वार) नेत्रादि छिद्र हैं । जब तक यह जीवात्मा इस शरीर में विराजमान है, तभी तक शरीरस्थ सब कार्य उसकी शासन-व्यवस्था से चलता रहता है और उसके निकलते ही शरीर की सब चेष्टाएं समाप्त हो जाती हैं ।

जीवात्मा का इस शरीर में स्थान कहां है ? इस प्रश्न के समाधान के साथ साथ एक दूसरे प्रश्न का भी उत्तर स्पष्ट रूप से मिल गया है कि वह जीवात्मा परिच्छिन्न है, विभु नहीं । क्योंकि जो विभु होता तो उसका शरीर में कोई एक स्थान निश्चित करना कदापि सङ्गत नहीं होता । और श्लोकस्थ 'वामन' पद इसी भाव को और अधिक स्पष्ट कर रहा है । महर्षि-दयानन्द ने इस विषय में बहुत ही निर्णीत तथा शास्त्रसम्मत सिद्धान्त लिखा है—

“(प्रश्न) जीव शरीर में भिन्न विभु है वा परिच्छिन्न ?

१. वामनः=वाम इति प्रशस्यनाम । निघं० ३।८। ततः पामादि-त्वान्मत्वर्थे नः प्रत्ययः । वामनम्=ह्रस्वाङ्गम् । यजु० ३०।१० महर्षिभाष्ये ।

२. देवशब्द इन्द्रियार्थे । तद्यथान्यत्रापि—नैनहेवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्॥ (यजु० ४०।४) देवशब्देन मनःषष्ठानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि गृह्यन्ते, तेषां शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धानां सत्यासत्ययोश्चार्थानां द्योतकत्वात् तान्यपि देवाः॥ ऋ० भू० ६४ ॥ स्व-स्वविषयप्रकाशकानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि ॥

(ऋ० ६।९।५ महर्षिभाष्ये)

‘इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते ।’

(निरुक्ते १३।११)

(उत्तर) परिच्छिन्न ? जो विभु होता तो जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, मरण, जन्म, संयोग, वियोग, जाना, आना कभी नहीं हो सकता । इसलिए जीव का स्वरूप अल्पज्ञ, अल्प अर्थात् सूक्ष्म है और परमेश्वर अतीव सूक्ष्मात्-सूक्ष्मतर, अनन्त, सर्वज्ञ और सर्वव्यापक स्वरूप है । इसलिए जीव और परमेश्वर का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ।” (सत्यार्थ० सप्तमसमुल्लास)

समीक्षा—इस श्लोक में जीवात्मा की सत्ता का स्पष्ट वर्णन है। प्राण, अपान का लेना जीवात्मा का ही लिङ्ग है । जैसे कि दर्शनकारों ने “प्राणापाननिमेषोन्मेष...आत्मनो लिङ्गानि ।” (वैशेषिक०) प्राणादि को जीवात्मा का लिङ्ग माना है । परन्तु अद्वैतवादी जीवात्मा की सत्ता ही न मानकर एक परब्रह्म को मानते हैं, यह उनकी भ्रान्ति ही है । क्योंकि हम देखते हैं कि जब तक जीव शरीर में रहता है, तभी तक शरीर में प्राणादि चेष्टाएँ होती हैं, जीवात्मा के पृथक् होने पर नहीं । यदि ये परमात्मा की ही चेष्टाएँ हैं तो जन्म-मरण दोनों ही असङ्गत हो जायेंगे । क्योंकि जीव के संयोग को जन्म और वियोग को मृत्यु कहते हैं । परब्रह्म तो सर्वव्यापी है, मरने के बाद भी शरीर में व्यापक है, फिर मरणोत्तर प्राणादि चेष्टाएँ क्यों नहीं होतीं ? और सर्वव्यापक का संयोग-वियोग कैसे हो सकता है? अतः अन्वय व्यतिरेक न्याय से प्राणादि चेष्टाएँ जीवात्मा के लिङ्ग हैं, परमात्मा के नहीं । और जीवात्मा की पृथक् सत्ता सिद्ध होने से अद्वैतवाद की मान्यता खण्डित हो जाती है ।

जीवात्मा के शरीर से वियुक्त होने पर शरीर में कुछ भी जीव का चिह्न शेष नहीं रहता—

अस्य विस्त्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः ।

देहाद् विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते ॥ एतद्वै तत् ॥५॥४॥

पदार्थ—(अस्य) पूर्व श्लोक में वर्णित (शरीरस्थस्य) शरीर में रहने वाले (देहिनः) शरीर के स्वामी जीवात्मा के (देहात्) शरीर से (विस्त्रंसमानस्य) रोगादि या वृद्धावस्था के कारण कार्य के योग्य न होने के कारण (विमुच्यमानस्य) पृथक् होते हुए का (अत्र) इस शरीर में (किम्) क्या (परिशिष्यते) शेष रह जाता है अर्थात् कुछ शेष नहीं रहता । (एतत्) यह (वै) निश्चय से (तत्) वह आत्म-तत्त्व है, जिसे हे नचिकेता ! तुम जानना चाहते हो ।



भावार्थ—मृत्यु के समय जब जीवात्मा इस शरीर से पृथक् हो जाता है, तब शरीर में कुछ भी नहीं रहता अर्थात् न प्राण चेष्टा करते हैं और सब इन्द्रियां भी अपना कार्य करना छोड़ देती हैं। तात्पर्य यह है कि जीव के पृथक् होते ही उसकी समस्त शक्तियां जीव के साथ ही चली जाती हैं। अतः जिस जीव के रहते हुए शरीर में विभिन्न चेष्टाएं दिखाई दे रही हैं, वही जीवात्मा है।

इस श्लोक में भी जीवात्मा की शरीर से उत्क्रान्ति का वर्णन किया गया है, अतः जीवात्मा अणु है, विभु नहीं। क्योंकि विभु की उत्क्रान्ति कदापि सम्भव नहीं है। नचिकेता का प्रश्न भी यही था कि मरने के बाद आत्मा की सत्ता है या नहीं। यमाचार्य ने परमात्मा का वर्णन प्रसङ्गानुकूल करके फिर जीवात्मा का वर्णन यहां किया है, क्योंकि परमात्मा की सिद्धि के बाद जीवात्मा की सिद्धि सुसाध्य हो जाती है।

शरीर में प्राणादि क्रियाएं जीवात्मा के आधीन हैं, इसका कथन करते हैं—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥५॥५॥

पदार्थ—(कश्चन) कोई (मर्त्यः) मनुष्य (न, प्राणेन) न तो प्राण से और (न अपानेन) न अपान से (जीवति) जीवित रहता है (तु) किन्तु (यस्मिन्) जिस जीवात्मा में (एतौ) ये दोनों प्राण व अपान (उपाश्रितौ) आश्रित हैं, (इतरेण) उस प्राण-अपान से भिन्न जीवात्मा के संयोग से (जीवन्ति) मनुष्य जीवित रहते हैं।

भावार्थ—जीवात्मा की सत्ता को न जानने वाले साधारण मनुष्य यही कहते रहते हैं कि प्राण-अपान ही जीवन के आधार हैं। किन्तु यथार्थ में यह बात नहीं है। प्राण व अपान अपनी क्रिया के करने में स्वतन्त्र नहीं हैं। जीवात्मा के आश्रय से ही प्राणादि चेष्टा करते हैं। वही मनुष्यों के जीवन का आधार है। यदि प्राणादि जीवन के हेतु हों तो मृत शरीर में भी कार्य क्यों नहीं करते? इससे स्पष्ट है कि इनकी समस्त गति जीवात्मा के आधीन है। इसीलिए वैशेषिकादि दर्शनकारों ने 'प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनादि.....' को जीवात्मा के लिङ्ग माने हैं। महर्षि-दयानन्द इस विषय में लिखते हैं—

“ये जीवात्मा के गुण परमात्मा से भिन्न हैं । इन्हीं से आत्मा की प्रतीति करनी, क्योंकि वह स्थूल नहीं है । जब तक आत्मा देह में होता है तभी तक ये गुण प्रकाशित रहते हैं जब शरीर छोड़ चला जाता है, तब ये गुण शरीर में नहीं रहते । जिसके होने से जो हों और न होने से न हों, वे गुण उसी के होते हैं । जैसे दीप और सूर्यादि के न होने से प्रकाशादि का न होना और होने से होना है, वैसे ही जीव और परमात्मा का विज्ञान गुण द्वारा होता है ।” (सत्यार्थ० सप्तम समु०)

“(प्रश्न) उसकी शक्ति कै प्रकार की और कितनी है ?

(उत्तर) मुख्य एक प्रकार की शक्ति है, परन्तु बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन, और ग्रहण तथा ज्ञान इन २४ प्रकार के सामर्थ्ययुक्त जीव हैं ।” (सत्यार्थ० नवम०)

अब यमाचार्य नचिकेता को ब्रह्म और जीवात्मा के उपदेश करने का वचन देते हैं—

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥५॥६॥

पदार्थ—(गौतम) हे गौतम के पुत्र नचिकेता ! (हन्त^१) तुम्हें योग्य शिष्य समझकर मैं यह कृपा करके उपदेश दे रहा हूँ (ते) और तेरे लिए (इदम्) इस (सनातनम्) अनादि (गुह्यम्) गोपनीय सूक्ष्म (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञान का (प्रवक्ष्यामि) उपदेश करूँगा (च) और यथा जिस प्रकार (मरणम्) मृत्यु को (प्राप्त) प्राप्त होकर (आत्मा) जीवात्मा (भवति) वर्तमान रहता है, वह भी बताऊँगा ।

भावार्थ—यमाचार्य नचिकेता को उपदेश करते हैं कि हे नचिकेता तुम सचमुच ही दयनीय हो, क्योंकि तुम्हारे जैसा योग्य शिष्य भी दुर्लभ होता है । मैं तुम्हें उस सूक्ष्म ब्रह्म के विषय में उपदेश करूँगा, जिसे जान कर जीवात्मा मोक्ष प्राप्त करता है और न जानने से जन्म-मरण के दुःखों में फँसा रहता है । और इस शरीर से पृथक् होने पर जीवात्मा की सत्ता है या नहीं, इसकी मृत्यु के बाद क्या गति होती है, इसका भी उपदेश करूँगा ।

१. ‘हन्त’ इत्यनुकम्पायां खेदे च (धातुपाठ) ।

अब कर्मानुसार जीवों की नाना योनियों में गति का वर्णन करते हैं—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥५॥७॥

पदार्थ—(अन्ये) ब्रह्मज्ञानी से भिन्न (देहिनः) जीवात्माएं (यथाकर्म) जैसा वा जितना पाप-पुण्य कर्म है (यथाश्रुतम्) और जैसा वा जितना ज्ञान है, उसके अनुसार (शरीरत्वाय) मनुष्यादि शरीर धारण करने के लिए (योनिम्?) जन्म स्थान को अथवा देह-धारण के कारण गर्भाशय को (प्रपद्यन्ते) प्राप्त होते हैं (अन्ये) और दूसरे अति निकृष्ट पाप करने वाले (स्थाणुम्?) स्थिर रहने वाली वृक्षादि योनियों को (अनुसंयन्ति) मरने के बाद प्राप्त होते हैं ।

भावार्थ—जो जीव ब्रह्मज्ञानी नहीं हैं उनके उपनिषत्कार ने यहां दो भेद किए हैं । एक वे जीव हैं जो मरने के बाद अपने कर्मानुसार और ज्ञान के संस्कार के अनुसार मनुष्य, पक्षी आदि योनियों को प्राप्त करते हैं और दूसरे वे अशुभ कर्म करने वाले जघन्य तमोगुणी जीव हैं, जो स्थाणु=वृक्षादि योनियों को धारण करते हैं । वृक्षादि भी योनियां हैं, इनमें भी जीवात्मा अपने कर्मानुसार जाते हैं, इससे यह स्पष्ट उल्लेख हो रहा है । महर्षि दयानन्द जी ने भी वृक्षों में कर्मानुसार जीवों की गति बताते हुए लिखा है—

(क) **स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाश्च कच्छपाः ।**

पशवश्च मृगाश्चैव जघन्या तामसी गतिः ॥(मनु०)

जो अत्यन्त तमोगुणी हैं स्थावर वृक्षादि, कृमि, कीट, मत्स्य, सर्प, कच्छप, पशु और मृग के जन्म को प्राप्त होते हैं ।

(ख) **शरीरजैः कर्मदोषैर्याति स्थावरतां नरः ॥ (मनु०)**

जो नर शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन, श्रेष्ठों को मारने आदि दुष्ट कर्म करता है, उसको वृक्षादि स्थावर का जन्म.....मिलता है॥”

(सत्यार्थ० नवम समु०)

(ग) **“(प्रश्न) ईश्वर ने किन्हीं जीवों को मनुष्य जन्म०.....**

१. योनिम्=जन्मस्थानम् ।

देहधारणकारणम् ।

२. स्थाणुः=वृक्षः ।

स्थाणुस्तिष्ठतेः ।

यजु० १९।७६ महर्षिभाष्ये ।

यजु० १२।३८ महर्षिभाष्ये ।

(स० प्र० ६९ पृ०)

(निरुक्त १।१८)

किन्हीं को वृक्षादि, कृमि, कीट, पतङ्गादि जन्म दिये हैं ॥ इससे परमात्मा में पक्षपात आता है ।”

(उत्तर) पक्षपात नहीं आता । क्योंकि उन जीवों के पूर्व सृष्टि में किये हुए कर्मानुसार व्यवस्था करने से जो कर्म के विना जन्म देता तो पक्षपात आता ।” (सत्यार्थ० ८ समु०)

इस ‘ग’ भाग में यद्यपि वृक्षादि के जन्म का पाठ प्रश्न रूप में दिया है, किन्तु महर्षि ने उत्तर में यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब जीवों की कर्मानुसार ही व्यवस्था है । यदि उनका ऐसा मत न होता तो वे इसका भी अवश्य खण्डन करते । क्योंकि ‘परमतमप्रतिषिद्धं स्वमतमेव भवति’ यदि कोई लेखक दूसरे आचार्य का मत दिखाकर उसका खण्डन नहीं करता तो यह समझना चाहिए कि वह लेखक का भी मत है ।

अब पूर्व प्रतिज्ञात ब्रह्म का वर्णन करते हैं—

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्ममाणः ।

तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः

श्रिताः सर्वे तद् नात्येति कश्चन ॥ एतद्वै तत् ॥५॥

पदार्थ—(यः) जो (एषः) यह (पुरुषः) समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त परब्रह्म (कामं कामम्) प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए (निर्ममाणः) समस्त जगत् और जगत् के पदार्थों का निर्माण करता हुआ सुप्तेषु) प्रमाद, आलस्य और निद्रा में सोते हुए जीवों में (जागर्ति) जागता है=सब को यथावत् जानता है (तत्, एव) वही (शुक्रम्) जगत् को बनाने वाला तथा शुद्धस्वरूप (तद्, ब्रह्म) वह ही सब से बड़ा (तत्, एव) वह ही (अमृतम्) जन्म-मरणादि से रहित होने से सदा मुक्त और अविनाशी (उच्यते) कहा जाता है । (तस्मिन्) उसी ब्रह्म में (सर्वे, लोकाः) सब पृथिवी सूर्यादि लोक (श्रिताः) स्थित हैं (तत्) उस ब्रह्म को (उ) निश्चय से (कश्चन) कोई भी (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् उसके नियमों को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। (एतत्) यही (वै) निश्चय से (तत्) वह जानने योग्य ब्रह्म है ।

भावार्थ—इस पञ्चमी वल्ली के छठे श्लोक में सदा मुक्त परब्रह्म तथा जन्म-मरण में बन्धने वाले जीवात्मा के विषय में उपदेश के लिए यमाचार्य ने कहा है । तदनुसार सातवें श्लोक में जीवात्मा के विषय में

कहा है कि यह शुभाशुभ कर्मानुसार विभिन्न योनियों में जाता है । अब यहां जीवात्मा से परब्रह्म का क्या भेद है ? अथवा जीवात्मा व परब्रह्म के कार्यों में क्या अन्तर है, इसका स्पष्ट वर्णन किया गया है । परब्रह्म के विशिष्ट कार्य ये हैं—(१) वह सर्वत्र व्यापक है; जीवात्मा नहीं । (२) वह जीवों के लिए जगत् के सब पदार्थों की रचना करता है । (३) वह प्रलयकाल में अथवा जब सब जीव प्रसुप्तावस्था में होते हैं तब जागता रहता है, अथवा सब को यथावत् जानता है । (४) वह शुक्रम्=शुद्ध स्वरूप तथा सृष्टि का कर्त्ता है । (५) वह ब्रह्म=सब से महान् है । (६) वह अमृतम्=मृत्यु आदि दुःखों से सदा मुक्त तथा अविनाशी है । (७) सूर्यादि लोक उस ब्रह्म के आश्रय से ही स्थित होकर कार्य कर रहे हैं । (८) कोई भी जीव परब्रह्म की व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं कर सकता।

समीक्षा—इन परब्रह्म के विशेष कार्यों से स्पष्ट है कि जीव-ब्रह्म एक कभी नहीं हो सकते । इतना स्पष्ट उल्लेख होते हुए भी नवीन अद्वैतवादी अपने मिथ्याग्रह पर ही स्थित हैं, यह कितने आश्चर्य की बात है । यहां स्वामी शङ्कराचार्य ने भी अपने भाष्य में यही लिखा है कि सातवें श्लोक में कर्मानुसार आत्मा ‘यथाकर्म=यद् यस्य कर्म’... यादृशं कर्मह जन्मनि कृतम्’ जिसने इस जन्म में जैसा कर्म किया है, उसी के अनुसार विभिन्न शरीरों को प्राप्त करते हैं । और यहां आठवें श्लोक में ब्रह्म का वर्णन माना है कि सब लोकों का—“पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मणि श्रिता आश्रिताः” आश्रय ब्रह्म है । इतना स्पष्ट जीव-ब्रह्म का भेद होते हुए भी दोनों की पृथक् सत्ता न मानना क्या महान् आश्चर्य की बात नहीं है ? क्या इन दोनों श्लोकों में एक ब्रह्म का ही वर्णन कोई मान सकता है ? क्या ब्रह्म शरीरधारण करके शुभाशुभ कर्म करता है ? और जीवों की कर्मानुसार फल की व्यवस्था क्या ब्रह्म नहीं करता है ? अतः तर्क व प्रमाण से हीन अद्वैतवाद की मान्यता सर्वथा ही मिथ्या है ।

अब ब्रह्म की सर्वव्यापकता का कथन करते हैं—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥५॥१॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एकः, अग्निः) एक ही अग्नि

भावार्थ—यहां परब्रह्म की सर्वव्यापकता को समझाने के लिए विद्युदग्नि का उदाहरण दिया है कि विद्युदग्नि स्थूल पदार्थों में व्यापक होकर भी उन पदार्थों से पृथक् नहीं दिखाई देती है, वैसे परब्रह्म सर्वत्र व्यापक है, वह सब प्राणियों की आत्मा में भी व्यापक है और उनसे बहिः=बाहर भी व्यापक है । यहां विद्युदग्नि के दृष्टान्त से परब्रह्म की व्यापकता को बताकर दोनों में भेद भी स्पष्ट कर दिया है कि विद्युदग्नि भौतिक पदार्थों में व्यापक है, उनसे बाहर नहीं, परन्तु परब्रह्म तो विद्युदग्नि से भी अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि वह सब पदार्थों के अन्दर तथा बाहर सर्वत्र व्यापक है जैसा कि यजुर्वेद में कहा है—

अर्थात् परब्रह्म तो इस समस्त ब्रह्माण्ड के अन्दर व बाहर सर्वत्र व्यापक है ।

समीक्षा—यहां विद्युदग्नि के दृष्टान्त से भी अद्वैतवाद का स्पष्ट खण्डन हो रहा है । क्योंकि जब परब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु की सत्ता ही नहीं है तो परब्रह्म की व्यापकता कैसे सिद्ध हो सकती है ? अतः परब्रह्म से भिन्न प्राकृतिक जगत् तथा जीवों को स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिनमें परब्रह्म परमसूक्ष्म होने से व्यापक है । यहां आचार्य शङ्कर लिखते हैं ‘भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनमयं लोकः’ अर्थात् जिसमें प्राणी पैदा होते हैं, वह यह लोक भुवन कहाता है । यदि लोक-लोकान्तरों की कोई सत्ता ही नहीं है, तो यह उनकी व्याख्या निरर्थक ही है ।

पुनः ब्रह्म की सर्वव्यापकता का अन्य दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥५॥१०॥



पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (एकः, वायुः) एक वायु (भुवनम्) कार्यरूप भौतिक पदार्थों में तथा लोक-लोकान्तरों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट होकर (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ के (प्रतिरूपः) तदाकार=उसके सदृश (बभूव) व्यक्त प्रतीत होता है (तथा) उसी प्रकार (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा (रूपं रूपम्) प्रत्येक रूपवान् पदार्थ को (प्रतिरूपः) रूप देनेवाला=व्यापक होने से कार्यरूप में व्यक्त करने वाला (च) और (बहिः) उन पदार्थों से बाहर भी है ।

भावावार्थ—यहां वायु के दृष्टान्त से परब्रह्म की व्यापकता बताई गई है । जैसे रूप-रहित वायु अपने से स्थूल पदार्थों में व्यापक होकर उन वस्तुओं से विलक्षण नहीं प्रतीत होता वैसे ही परब्रह्म सब चराचर जगत् में व्यापक होता हुआ भी उनसे बाहर भी व्यापक है । सूक्ष्म वस्तु अपने से स्थूल पदार्थों में व्यापक हो सकती है, अपने से सूक्ष्मतर में नहीं । इस नियम से वायु भी अपने से स्थूल पदार्थों में ही व्यापक है यही कारण है कि वायु आकाश में व्यापक नहीं है, अतः आकाश में वायु का स्पर्श गुण नहीं है, हां उसकी अपेक्षा स्थूल अग्नि, जल, पृथिवी में वायु का स्पर्श गुण है । इस नियम को ध्यान में रखकर वायु के दृष्टान्त से परब्रह्म की व्यापकता समझनी चाहिए । दृष्टान्त का एक देश ही समझाने के लिए ग्राह्य होता है, सर्वांश में नहीं । यथार्थ में वायु की व्यापकता वायु से सूक्ष्म आकाश, जीवात्मा व परमात्मादि में नहीं है । और परब्रह्म परमसूक्ष्म होने से सब पदार्थों के अन्दर व बाहर सर्वत्र व्यापक है ।

अब परब्रह्म के सर्वव्यापक होते हुए भी निर्लेप भाव का कथन करते हैं—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।

एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥५॥११॥

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (सर्वलोकस्य) समस्त दृश्यमान संसार को (चक्षुः) दर्शनशक्ति देने का हेतु (सूर्यः) सूर्य (चाक्षुषैः) चक्षु इन्द्रियसम्बन्धी (बाह्यदोषैः) बाह्य दोषों से (न, लिप्यते) लिप्त=दूषित नहीं होता (तथा) उसी प्रकार (एकः) एक (सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी परमात्मा (बाह्यः) सब प्राणियों के दोषों से बाहर है और (लोकदुःखेन) सांसारिक दुःखों से (न, लिप्यते) लिप्त=दुःखित

अथवा दूषित नहीं होता अर्थात् जीवों को कर्म का फल सुख-दुःख देता हुआ भी इनसे पृथक् ही रहता है । अथवा दूषित मलादि वस्तुओं में व्यापक होकर भी उनके दोषों से दूषित नहीं होता ।

भावार्थ—इस श्लोक में सर्वव्यापक परब्रह्म के निर्लेप भाव को स्पष्ट किया गया है । बहुत से भ्रान्त-अल्पज्ञ व्यक्ति परब्रह्म को इसलिए व्यापक नहीं मानते कि इससे परब्रह्म भी दूषित हो जाएगा । परन्तु उपनिषत्कार ने सूर्य के दृष्टान्त से इस भ्रान्ति का निराकरण कर दिया है। जैसे सूर्य के प्रकाश के बिना नेत्रेन्द्रिय कार्य नहीं कर सकती, अतः सूर्य रूप-ज्ञान का कारण है । परन्तु सूर्य नेत्रों या दूसरे दूषित पदार्थों से दूषित कभी नहीं होता । वैसे ही परब्रह्म मलादि में भी सर्वत्र अन्दर बाहर व्यापक है, परन्तु व्याप्य स्थूल पदार्थों के दोषों से दूषित कभी नहीं होता । वह तो 'लोकदुःखेन बाह्यः' संसार में उत्पन्न दोषों से सर्वथा पृथक् है । क्योंकि यह एक सर्वमान्य सत्य है कि सूक्ष्म के गुण-दोष स्थूल पदार्थों में आ सकते हैं, परन्तु स्थूल पदार्थों के गुण-दोष सूक्ष्म में कभी नहीं जा सकते ।

समीक्षा—उपनिषत् के इस श्लोक से नवीन वेदान्तियों की इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि ब्रह्म से भिन्न परमार्थ में जीवात्मा की कोई सत्ता नहीं है क्योंकि यहां कहा है कि ब्रह्म बाह्य दुःखादि से सदा पृथक् है और जीवों को हम प्रत्यक्ष दुःखी-सुखी देखते हैं । यदि परब्रह्म का ही जीव अंश है तो जीव के दुःखी होने से ब्रह्म को भी दुःखी मानना पड़ेगा।

अतः इस प्रत्यक्ष तथा सर्वजन विदित तथ्य का अपलाप नहीं किया जा सकता ।

अब सृष्टिकर्ता व सर्वान्तर्यामी परमात्मा के ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का कथन करते हैं—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥५॥१२॥

पदार्थ—(सर्वभूतान्तरात्मा) सब प्राणियों का अन्तर्यामी (वशी) सब चराचर जगत् का नियन्ता (एकः) परमात्मा है (यः) जो (एकम्) जगत् के उपादान कारण मूल प्रकृति के एक रूप को (अर्थात् प्रलयकाल में अतिसूक्ष्म-दशा में होने से जिसका भेद करना सम्भव नहीं है ।) (बहुधा) बहुत प्रकार का स्थूल कार्य जगत् (करोति) उत्पन्न

करता है (ये) जो (धीराः) विवेकी=ध्यान करने वाले योगी पुरुष (तम्) उस परमात्मा को (आत्मस्थम्) जो अति सूक्ष्म होने से जीवात्मा में व्याप्त है, उसको (अनुपश्यन्ति) गुरु के उपदेश के बाद देखते=अनुभव करते हैं (तेषाम्) उनको (शाश्वतम्) निरन्तर (सुखम्) मुक्ति का सुख प्राप्त होता है (इतरेषाम्, न) योगियों से भिन्न पुरुषों को नहीं ।

महर्षि-दयानन्द ने इस श्लोक को ऋ० भू० के 'वेदविषयविचारः' प्रकरण में उद्धृत किया है और पाश्चात्य विद्वानों की भ्रान्तियों का सप्रमाण खण्डन करते हुए लिखा है कि प्राचीन आर्य लोग सृष्टि के प्रारम्भ से पृथिव्यादि जड़देवों की पूजा कदापि नहीं करते थे । वे तो केवल एक सर्वान्तर्यामी देव परमात्मा की ही इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि विभिन्न नामों से उपासना करते चले आए हैं ।

भावार्थ—उपनिषत् के इस श्लोक से आस्तिक जगत् की अनेक भ्रान्तियों का स्पष्ट रूप से निराकरण हो जाता है । जैसे—

(१) वह परब्रह्म एक ही उपासनीय इष्टदेव है । शिव, विष्णु आदि नामों से विभिन्न देवी-देवताओं की पौराणिक कल्पना सर्वथा मिथ्या है । क्योंकि ये सब उस एक ब्रह्म के गौणिक नाम हैं ।

(२) क्योंकि ब्रह्म एक है, इसलिए नवीन वेदान्तियों की इस मान्यता का खण्डन हो जाता है कि सब शरीरों में एक ब्रह्म का ही अंश जीव रूप में कार्य कर रहा है । यदि एक ही चेतनतत्त्व सब प्राणियों में हो तो दूसरे का ज्ञान दूसरों को भी हो जाना चाहिए । एक के ज्ञानी होने से सब ज्ञानी, एक के राजा बनने से सब राजा, एक के दरिद्र या दुःखी होने से सब दुःखी या दरिद्री, एक के पापी होने से सब पापी हो जायें । इससे यह भी दोष आयेगा—कर्मफल-व्यवस्था लागू नहीं की जा सकती । कर्म कोई करे, फल कोई भोगे । और यह मान्यता प्रत्यक्ष के भी विरुद्ध है । यदि सब में एक ही चेतन सत्ता कार्य कर रही है तो एक दूसरे की बातों का ज्ञान दूसरों को भी होना चाहिए । अतः प्रति शरीर जीवात्माओं को ब्रह्म से भिन्न मानने में ही सभी शास्त्रीय व्यवस्था लागू हो सकती हैं और कोई विरोध भी नहीं आयेगा ।

(३) वह एक ब्रह्म वशी=चराचर जगत् को वश में किये हुए है अर्थात् उसके बनाये नियमों से समस्त जगत् चल रहा है । यदि ब्रह्म से भिन्न जगत् को मिथ्या माना जाये तो ब्रह्म को वशी कहना निरर्थक है ।

(४) सर्वभूतान्तरात्मा=वह ब्रह्म सब जीवात्माओं में भी व्यापक है । अतः जीव-ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है ।

(५) वह एक ब्रह्म ही समस्त ब्रह्माण्ड की रचना करता है । यह जगत् संयोग से बना है, अतः नश्वर है । यह स्वयं ही नहीं बना और न कोई ब्रह्म से भिन्न इस जगत् को बना सकता है । और इस से यह भी स्पष्ट है कि परमेश्वर एक मूल प्रकृति, जो जगत् का उपादान कारण है, उसी से जगत् की रचना करता है । इस जगत् का उपादान कारण प्रकृति है, ब्रह्म निमित्त कारण है । प्रकृति की सत्ता को न मानने वाले नवीन वेदान्तियों को 'एकं रूपं बहुधा करोति' इस वाक्य पर विशेष ध्यान देना चाहिए ।

(६) और शाश्वत सुख प्राप्त करने की इच्छा करने वालों को परब्रह्म को जानना परमावश्यक है । उसको विना जाने नास्तिक मूढ़ लोग शाश्वत सुख को नहीं प्राप्त कर सकते हैं ।

(७) उस परब्रह्म की उपासना या भक्ति कहां करनी चाहिए ? इस विषय में आस्तिक जगत् में बड़ा विवाद है । और अज्ञानी लोग पथभ्रष्ट होकर बाहर के संसार में या जड़ मूर्तियों में ब्रह्म को मानकर मिथ्या-भक्ति में लगे हैं । यहां उपनिषद् में बहुत ही स्पष्ट कहा है कि उस ब्रह्म का साक्षात्कार योगाभ्यास से अपनी आत्मा में ही करना चाहिए। क्योंकि वहां उपास्य व उपासक दोनों विद्यमान हैं ।

शाश्वत-शान्ति कौन प्राप्त कर सकते हैं ? अब यह स्पष्ट करते हैं—

नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तमात्मस्थं ये ऽ नुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥

(५।१३)

पदार्थ—(यः) जो (नित्यानाम्) जगत् के मूल कारण नित्य प्रकृति तथा अनादि जीवों में (नित्यः) कूटस्थ नित्य है (चेतनानाम्) चेतनधर्मा जीवों में भी (चेतनः) चेतनस्वरूप है तथा उनका भी साक्षी है । (बहूनाम्) परिच्छिन्न चराचर वस्तुओं में (एकः) एक अपरिच्छिन्न= व्यापक है और (कामान्) जीवों को कर्मानुसार फलों को (विदधाति) देता है । (तम्) उस (आत्मस्थम्) जीवात्मा में भी स्थित परमात्मा को (ये) जो (धीराः) विद्वान् योगी (अनुपश्यन्ति) गुरु के उपदेश के बाद निदिध्यासन से अनुभव करते हैं । (तेषाम्) उनको (शाश्वतीः) निरन्तर स्थिर रहने वाली (शान्तिः)

शान्ति प्राप्त होती है (इतरेषाम्, न) अज्ञानियों को नहीं ।

महर्षि दयानन्द ने इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

(क) “जो परमात्मा प्रकृति और जीवादि के बीच में नित्य है तथा चेतन जो जीव उनके बीच में चेतन है । बहुत असंख्यात जीवादि पदार्थों के बीच में जो एक है तथा जो पृथिवी आदि स्वर्गपर्यन्त पदार्थों का रचन, किं वा ज्ञान से सब कामों का विधान करता है उस परमात्मा को जो जीव अपने आत्मा में ध्यान से देखते हैं, उन जीवों को ही निरन्तर शान्ति व सुख प्राप्त होता है, अन्य को नहीं ।”

(वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्, लघु० ८४)

(ख) इस प्रमाण से जीव-ब्रह्म का भेद बताते हुए महर्षि लिखते हैं—

“इससे भी ‘आत्मस्थ’ शब्द प्रत्यक्ष होने से ईश्वर और जीव का व्यापक-व्याप्य तथा अन्तर्यामी-अन्तर्याम्य सम्बन्ध होने से जीव और ब्रह्म एक कभी नहीं होते ।” (वेदान्तिध्वान्तनिवारणम्, लघु० ८४)

(ग) महर्षि ने पृथिव्यादि जड़ देवों की पूजा का खण्डन तथा एक परमेश्वर की उपासना का मण्डन करते हुए उपर्युक्त श्लोक ऋ० भू० के ‘वेदविषयविचार’ प्रकरण में प्रमाण रूप में उद्धृत किया है । और पाश्चात्य विद्वानों की इस विषय में उत्पन्न भ्रान्तियों का सप्रमाण समाधान किया है ॥ (ऋ० भू० ५६)

भावार्थ—इस श्लोक में कहीं नित्योऽनित्यानाम्’ ऐसा पाठ भी मिलता है । वहां ऐसा अर्थ करना चाहिए कि वह ब्रह्म अनित्य=उत्पन्न होने वाले पदार्थों में नित्य=अविनाशी है । और ‘चेतनश्चेतनानाम्’ वह ब्रह्म चेतन जीवों में चेतन=सर्वज्ञ ज्ञान का भण्डार है और ज्ञानादि देकर सब जीवों को चेतयिता=चेतना देने वाला है । और वह कामान्=जीवों को कर्मानुसार फल देने वाला है । इससे स्पष्ट है कि चेतन जीवात्मा की सत्ता परब्रह्म से भिन्न है, अन्यथा ‘चेतनानाम्’ यहां बहुवचन निरर्थक हो जायेगा । इस जीव-ब्रह्म के स्पष्ट भेद को समझकर जो धीर=विवेकी योगी पुरुष अपनी आत्मा में परमात्मा की अनुभूति कर लेते हैं, उन्हें ही शाश्वती शान्तिः=निरन्तर रहने वाली शान्ति प्राप्त होती है, दूसरों को नहीं।

उस परब्रह्म का सुख अनिर्देश्य है, उसको जानने के लिए नचिकेता पुनः प्रश्न करता है—

तदेतदिति मन्यन्ते ऽ निर्देश्यं परमं सुखम् ।

कथन्तु तद् विजानीयां किमु भाति विभाति वा ॥५॥१४॥

(क) “सूर्य, चन्द्रमा, तारे, बिजुली और अग्नि ये सब परमेश्वर में प्रकाश नहीं कर सकते । किन्तु इन सब का प्रकाश करने वाला एक

वही है । क्योंकि परमेश्वर के प्रकाश से ही सूर्य आदि सब जगत् प्रकाशित हो रहा है । इसमें यह जानना चाहिए कि ईश्वर से भिन्न कोई पदार्थ स्वतन्त्र प्रकाश करने वाला नहीं है । इससे एक परमेश्वर ही मुख्य देव है ।”

“सूर्यादि लोकों का भी जो प्रकाश करने वाला है, सो ही ईश्वर सब मनुष्यों को उपासना करने के योग्य इष्टदेव है, अन्य कोई नहीं इसमें कठोपनिषद् का भी प्रमाण है ।” (ऋ० भू० वेदविषयविचारः ६३ पृ०)

(ख) महर्षि ने ऋग्वेद के (७।५।४) मन्त्र-भाष्य के भावार्थ में इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार की है—

“हे मनुष्यो ! जिसके आधार में पृथिवी सूर्य स्थित होके अपना कार्य करते हैं । कठोपनिषद् में लिखा है कि—उस परमात्मा को जानने के लिए सूर्य, चन्द्रमा, बिजुली वा अग्नि आदि कुछ प्रकाश नहीं कर सकते किन्तु उसी प्रकाशित परमेश्वर के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं ।”

भावार्थ—नचिकेता के प्रश्नानुसार यमाचार्य उत्तर देते हैं कि वह ब्रह्म स्वयं प्रकाशमान है । उसको ये विशाल सूर्य चन्द्रादि भी प्रकाशित नहीं कर सकते । क्योंकि सूर्य-चन्द्रादि का बनाने वाला ब्रह्म ही है । जैसा कि कहा है—‘सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।’ (ऋग्वे०) उस एक परमेश्वर ने ही सूर्य, चन्द्रादि को पूर्व सृष्टि की भांति ही बनाया है । और उस परमेश्वर का नाम ‘हिरण्यगर्भः’ भी इसलिए है कि ये ज्योति के पुञ्ज सूर्यादि लोक भी परमेश्वर के अन्दर गर्भवत् स्थित हैं। अतः सूर्यादि जो भी प्रकाशमान लौकिक पदार्थ हैं, उनमें स्वतः कोई प्रकाश नहीं है । परमात्मा-प्रदत्त प्रकाश से ही ये सब प्रकाशित हो रहे हैं । अतः मोक्षार्थी को परमात्मा की ज्योति से प्रकाशित सूर्यादि जड़-देवों का आश्रय छोड़ कर एकमात्र परमज्योतिःस्वरूप परमात्मा की ही उपासना या भक्ति करनी चाहिए ।

इति कठोपनिषद्भाष्ये पञ्चमी वल्ली समाप्ता ॥



अथ कठोपनिषद्भाष्ये षष्ठी वल्ली

ब्रह्म ही सब लोकों का आश्रय तथा नियन्ता है—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।
तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नान्येति कश्चन ॥

एतद्वै तत् ॥ (६।१)

पदार्थ—(ऊर्ध्वमूलः) जिसका मूल=जड़ ऊपर को और (अवाक् शाखः) जिसकी शाखाएं नीचे की ओर हैं, ऐसा (एषः) यह प्रत्यक्ष मनुष्य का शरीर और यह जगत् (सनातनः) प्रवाह से अनादि है । (अश्वत्थः^१) कल ठहरेगा वा नहीं, इस प्रकार जिसका जीवन पीपल के वृक्ष के पत्ते के समान अस्थिर है । ऐसा मानव-शरीर वा जगत् रूपी वृक्ष जिसके आश्रित हैं (तत्, एव) वही (शुक्रम्) सृष्टिकर्ता तथा परम पवित्र है । (तत्) वह (उ) निश्चय से (ब्रह्म) सब से महान् है (तत्, एव) वह ही (अमृतम्) अविनाशी है, ऐसा विद्वान् पुरुष ब्रह्म के विषय में (उच्यते) कथन करते हैं (तस्मिन्) उस ब्रह्म में (सर्वे) सब (लोकाः) पृथिव्यादिलोक (श्रिताः) आश्रित हैं (तत्) उस ब्रह्म को (उ) निश्चय से (कश्चन) कोई लोक वा पुरुष (न, अत्येति) उल्लङ्घन नहीं कर सकता अर्थात् सभी उसकी अटल व्यवस्था का पालन कर रहे हैं (एतत्) यह (वै) निश्चय से (ब्रह्म) ब्रह्म है ।

भावार्थ—यहां मनुष्य के शरीर को वृक्ष की भांति बताया गया है, यदि मानव-शरीर को उलटा खड़ा कर दिया जाये तो यह वृक्ष की तरह ही नीचे जड़ तथा ऊपर शाखाओं वाला बन जाता है । और यह जड़ जगत् भी इसी प्रकार है, इसका मूल सूर्य ऊपर है, शाखाएँ नीचे हैं। किन्तु शरीरादि जड़ जगत् 'अश्वत्थः=न श्वस्तिष्ठति'=अस्थिर=नष्ट

१. 'अश्वत्थ' शब्द की व्याख्या महर्षि दयानन्द ने इस प्रकार की है—

श्वः स्थाता न स्थाता वा वर्तते तादृशे देहे । (यजु० १२।७९ महर्षिभाष्ये) श्वः स्थास्यति न स्थास्यति वा तस्मिन्नित्ये संसारे ।

(य० ३५।४ महर्षिभाष्ये)

होने वाला है । परब्रह्म के आश्रय से सब लोक-लोकान्तर स्थित हैं । वह जगत् का निमित्तकारण है, उपादान कारण नहीं । परब्रह्म की व्यवस्था को तोड़ने का किसी का भी सामर्थ्य नहीं है । और वह स्वयं अविनश्वर=कभी नष्ट नहीं होता क्योंकि वह अमृत तथा निर्विकार है ।

समीक्षा—इस श्लोक की व्याख्या में आचार्य शङ्कर लिखते हैं—

“तस्मिन् परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः।”

अर्थात् ब्रह्म ही एक परमार्थ सत्य है और ब्रह्म से भिन्न जो लोक हैं वे गन्धर्वनगर अथवा मरुमरीचिकाओं में प्रतीत होने वाले जल के समान मायारूप ही हैं, यथार्थ नहीं । यह अद्वैतवादी शङ्कराचार्य की मान्यता मिथ्या है । क्योंकि जो प्रत्यक्ष जड़जगत् दिखाई दे रहा है, उसको गन्धर्वनगर की भांति झूठा नहीं कहा जा सकता । क्योंकि प्रत्यक्ष जगत् का अपलाप करना कैसे मान्य हो सकता है । और सत्य वस्तु का कभी अभाव नहीं हो सकता तथा असद् वस्तु की कभी सत्ता सम्भव नहीं है । इस दार्शनिक अटल नियम के अनुसार कार्य जगत् को झुठलाया नहीं जा सकता । प्रलय में भी यह कार्य जगत् प्रकृति में लय हो जाता है, अभाव नहीं होता ।

जगन्नियन्ता परमेश्वर के ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति का कथन करते हैं—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद् भयं वज्रमुद्यतं एतद् विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥६।२॥

पदार्थ—(यत्, इदम्) जो यह (किम्, च) कुछ अथवा परमेश्वर की अपेक्षा छोटा वा तुच्छ (जगत्) जगत् दिखाई देता है (सर्वम्) यह सब (निःसृतम्) परमात्मा द्वारा उत्पन्न हुआ है और यह (प्राण^१) सब जगत् को जीवन देने वाले परमात्मा के आश्रय में (एजति) अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त हो रहा है अथवा चलायमान=भ्रमण कर रहा है । वह ब्रह्म दुष्ट-पुरुषों के लिए (उद्यतम्, वज्रम्) हाथ में उठाये वज्र=शस्त्र के समान कर्मानुसार दण्डित करने के कारण (महद्भयम्) अत्यन्त डराने

१. ‘प्राण’ परमात्मा का नाम है । वेद में कहा है—‘प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।’ (अथर्व०) जैसे प्राण के वश सब शरीर, इन्द्रियां होती हैं, वैसे परमेश्वर के वश में सब जगत् होता है। (सत्यार्थ० प्रथम०)

वाला है (एतत्) इस ब्रह्म को (ये) जो विवेकी धीर पुरुष (विदुः) जान लेते हैं (ते) वे (अमृताः) जन्म-मरण रूप दुःखों से मुक्त (भवन्ति) हो जाते हैं ।

भावार्थ—इस समस्त जगत् का बनाने वाला तथा नियन्ता एक परमेश्वर ही है । वही न्यायाधीश होकर कर्मानुसार (पुण्य या पाप के) फल देता है । सूर्यादि सब लोक-लोकान्तर परमेश्वर के रचित हैं, और उसी के नियम से चलायमान हो रहे हैं । कोई जड़ चेतन देव परमेश्वर की अटल व्यवस्था का उल्लङ्घन नहीं कर सकता । जो योगी पुरुष परमेश्वर की व्यवस्था को समझकर उसकी उपासना करते हैं, वे ज्ञानी पुरुष दोषों से छूटकर अमृताः=मोक्ष को प्राप्त कर लेते हैं । क्योंकि परमेश्वर की दण्डनात्मक नियन्त्रण शक्ति को जो भूल जाता है, वह कभी भी दोषों से नहीं छूट सकता ।

परमात्मा की अटल-व्यवस्था का उल्लङ्घन कोई नहीं कर सकता । प्रकारान्तर से इसका कथन करते हैं—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥६॥३॥

पदार्थ—(अस्य) इस उपर्युक्त ब्रह्म के (भयात्) भय=अटल नियम से (अग्निः) यह भौतिक अग्नि (तपति) तपता है अर्थात् अपने दाहकता गुण से विरुद्ध आचरण कभी नहीं करता । (भयात्) इस ब्रह्म के भय से (सूर्यः) सूर्य (तपति) ताप=गर्मी व प्रकाश दे रहा है । (च) और (भयात्) इस ब्रह्म के भय से ही (इन्द्रः) विद्युत् (च) और (वायुः) वायु अपना अपना कार्य कर रहे हैं और (पञ्चमः) पांचवां (मृत्युः^१) मृत्यु=जन्म-मरण से उत्पन्न दुःख परमात्मा के भय=नियम से (धावति) इधर-उधर आता जाता रहता है ।

भावार्थ—जैसे दण्डादि हाथ में लिये स्वामी या गुरुजनों को देखकर नौकर या शिष्य भयभीत होकर अपने-अपने कार्यों में लग जाते

१. 'मृत्यु' का यहां 'दुःख' अर्थ है, प्राणवियोग नहीं । क्योंकि परमात्मा जीवों के कर्मानुसार ही सुख-दुःख देता है । 'यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः' इस वेदमन्त्र में भी 'मृत्युः' शब्द दुःख अर्थ में ही प्रयुक्त है । और प्राणवियोग का समय किसी प्राणी का निश्चित नहीं होता । अतः इस अर्थ की यहां कोई सङ्गति भी नहीं है ।

हैं, ऐसे ही परमेश्वर का भय=जो अटल व्यवस्था है, उस में किसी प्रकार का भी क्षमाभाव नहीं है और नहीं उसको कोई तोड़ सकता है, उसको देखकर या समझकर स्पष्ट हो रहा है कि सूर्यादि जड़देव परमेश्वर के नियमानुसार ही चल रहे हैं । और मृत्यु नाम दुःख का है । वह परमेश्वर जीवों को कर्मानुसार सुख-दुःख देता है । दुःख को देखकर मानव घबराता है । और इस मृत्यु=दुःख से समस्त प्राणी सन्त्रस्त हैं । परमेश्वर के दिये दण्डों को देखकर मानव पापों से बच सकता है । अन्यथा परमेश्वर को भूलकर पापकर्मों में लगा रहता है । यहां मृत्यु से अभिप्राय यमदूतादि से नहीं है, क्योंकि परमेश्वर को अपनी व्यवस्था चलाने के लिए किसी दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है । और यहां अग्नि आदि शब्दों का अभिप्राय जड़ पदार्थों से है, स्वर्गस्थ पौराणिक कल्पित देवविशेषों से नहीं ।

ब्रह्म को जानने तथा मोक्ष-प्राप्ति के लिए मानव शरीर ही सर्वोत्तम है । यह कथन करते हैं—

इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक् शरीरस्य विस्त्रसः ।

ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥६४॥

पदार्थ—(चेत्) यदि (शरीरस्य) मानव शरीर के (विस्त्रसः) विध्वंस होने=छूटने से (प्राक्) पहले ही (इह) इस मनुष्य जन्म में (बोद्धुम्) ब्रह्म को जानने को (अशकत्) समर्थ हो जाता है तो उसका जीवन सफल है और दुःखों से मुक्त हो जाता है अन्यथा (ततः) मानव-शरीर के वियोग होने के बाद (सर्गेषु) सृष्टि के (लोकेषु) पृथिव्यादि लोकों में (शरीरत्वाय) विभिन्न योनियों में शरीर-धारण करने के लिए ही (कल्पते) समर्थ होता है ।

भावार्थ—इस संसार में मनुष्य योनि ही ऐसी है कि जिसमें ज्ञान-विज्ञान के द्वारा मानव परमेश्वर को जान सकता है और मोक्ष का अधिकारी बन सकता है । मनुष्य से भिन्न पशु-पक्षी आदि योनियां तो परमेश्वर के कारागार=जेलखाने हैं । उनमें कोई जीव श्रेष्ठ कार्य नहीं कर सकता । इसलिए उपनिषत्कार कहते हैं कि इस मानव योनि में आकर यदि परमेश्वर को जान लिया तो जीवन सफल है, अन्यथा जन्म-जन्मान्तरों में ही चक्कर लगाना पड़ेगा ।



अब ब्रह्मदर्शन की विविधता का कथन करते हैं—

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातपयोरिव ब्रह्मलोके ॥

(६।५)

पदार्थ—(यथा) जिस प्रकार (आदर्श) दर्पण में (परिदृशे) मुखादि अवयव स्पष्ट दिखाई देते हैं (तथा) वैसे ही (आत्मनि) शरीरस्थ शुद्ध अन्तःकरण में ध्यानयोग से परमात्मा दीखता है । (यथा) जैसे (स्वप्ने) स्वप्नावस्था में इन्द्रियों और वस्तु का सम्बन्ध न होने पर भी जाग्रद् दशा के संस्कारों से (परिदृशे इव) पदार्थ प्रत्यक्ष से दिखाई देते हैं (तथा) वैसे (पितृलोके^१) कर्म व उपासना में निरत अवस्था में परमात्मा की प्रतीति होती है । (यथा) और जैसे (अप्सु) जलों में (परिदृशे इव) शरीरावयव दिखाई देते हुए भी दर्पणवत् स्पष्ट नहीं दीखते (तथा) वैसे (गन्धर्वलोके^२) गानविद्या के रसिकों को परमात्मा की प्रतीति आभासमात्र होती है । परन्तु (ब्रह्मलोके) ब्रह्म को जानने की अवस्था=निर्बीज अथवा निर्विकल्प समाधि में (छाया-आतपयोः, इव) छाया और धूप के समान प्रभु के प्रत्यक्ष दर्शन का भेद स्पष्ट प्रतीत हो जाता है॥

भावार्थ—यहां पितृलोक, गन्धर्वलोक व ब्रह्मलोक कोई स्थान विशेष नहीं हैं किन्तु अवस्थाविशेष हैं । क्योंकि लोकविशेष परमात्मा के जानने में हेतु नहीं हो सकता । और जो परमेश्वर का ध्यान शुद्ध मन से करते हैं, अथवा पितृलोक=कर्म व ईश्वर-उपासना में निरत हैं, अथवा गन्धर्वलोक=परमात्मा के गुणगानमात्र में लगे हैं, अथवा ब्रह्म में ही लीन हैं, इन सब अवस्थाओं में ब्रह्मलोक=जिस दशा में ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का ज्ञान न रहे और स्वरूपशून्य सा हो जाता है, जिसे योग में

१. 'पितृलोक' किसी स्थानविशेष का नाम नहीं है किन्तु कर्मोपासना के मार्ग को ही पितृलोक कहते हैं । महर्षि दयानन्द ने इस विषय में लिखा है—“जो विद्यामार्ग है, वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है, वह पितृयान कहाता है ।” (ऋ० भू० पितृयज्ञविषयः)

२. 'गन्धर्वलोक' भी कोई स्थानविशेष नहीं है । यहां भोगासक्त या इन्द्रियों के सुख में लिप्त पुरुष को गन्धर्व शब्द से कहा है जैसे महर्षि-दयानन्द ने लिखा है—“भोगाभिज्ञत्वाद् गन्धर्व इति नियुक्तः पतिः ।” (ऋ० भू० नियोगविषयः)

असम्प्रज्ञातयोग कहते हैं, यह अवस्था ही सर्वोत्तम है। योगी पुरुषों को परमात्मा के साक्षात्कार के लिए इस अवस्था को ही प्राप्त करने का यत्न करना चाहिये।

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।

पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥६॥६॥

पदार्थ—(पृथगुत्पद्यमानानाम्) अपने-अपने शब्दादि विषयों के ग्रहण करने के लिए अपने-अपने आकाशादि कारण से पृथक्-पृथक् उत्पन्न (इन्द्रियाणाम्) श्रोत्रादि इन्द्रियों का (यत्) (जो पृथग्भावम्) नित्य परमेश्वर से पृथक्भाव है, इस को (च) और (यत्) जो (उदयास्तमयौ) उत्पत्ति तथा विनाशधर्म वाले इन्द्रिय शरीरादि पदार्थों को परमेश्वर से पृथक् (मत्वा) जानकर (धीरः) विवेकी पुरुष (न शोचति) शोकादि दुःखों से युक्त नहीं होता है।

भावार्थ—परमेश्वर चेतन, शाश्वत तथा अविकारी सत्ता है। वह कभी शरीर तथा इन्द्रियादि नश्वर पदार्थों से संयुक्त नहीं होता। जितने भी विनश्वर पदार्थ हैं, परमेश्वर उनसे भिन्न है। जो जीव इस रहस्य को समझ कर परमेश्वर की उपासना करता है, वह दुःखों से मुक्त हो जाता है। वेद में भी इसी भाव को स्पष्ट रूप से कहा है—‘तमेव विदित्वाति-मृत्युमेति’ उस परमेश्वर को यथार्थ रूप से जानकर ही जीव दुःखों से मुक्त होता है। और जो इन्द्रियादि (जीव-सम्बन्ध) के उत्पत्ति-विनाश भाव को नहीं जानता और इन्हीं के भोगों में लिप्त रहता है वह कभी भी दुःखों से मुक्त नहीं हो सकता। क्योंकि उसे अमरणधर्मा आत्मा का तथा इन्द्रियों के कारण भूत आकाशादि तत्त्वों का पूर्ण ज्ञान नहीं है।

अब परमेश्वर की सूक्ष्मता का वर्णन क्रमशः करते हैं—

इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम् ।

सत्त्वादपि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥६॥७॥

पदार्थ—(इन्द्रियेभ्यः) श्रोत्रादि-इन्द्रियों से (मनः) मन (परम) सूक्ष्म है (मनसः) मन से (सत्त्वम्^१) बुद्धि अथवा अहङ्कार (उत्तमम्) अतिशय सूक्ष्म है (सत्त्वाद् अधि) बुद्धि अथवा अहङ्कार से अधिक सूक्ष्म

१. प्रायः सभी व्याख्याकार ‘सत्त्वम्’ पद का अर्थ बुद्धि करते हैं। किन्तु बुद्धि मन एक ही वृत्ति है, पृथक् नहीं। महर्षि दयानन्द ने लिखा

१. 'मनीषा' पद में मन और ईषा दो पदों का समास होने पर 'शकन्ध्वादि' से पररूप हो गया है। इसकी व्याख्या करते हुए महर्षि लिखते हैं—'मनो विज्ञानम ईषते यया प्रज्ञया सा मनीषा।' (ऋ० भा० १।५४।८)

भावार्थ—इस श्लोक में परमात्मा को रूपादि से रहित होने से इन्द्रियागोचर कहा गया है । योगी पुरुष ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा परमात्मा को जानने में समर्थ हो सकता है । इसलिए जो परमात्मा को साकार मानकर पूजा करते हैं, वे सब भ्रान्ति से ग्रस्त होने से पथभ्रष्ट ही हैं । प्रस्तुत श्लोक में ‘मनीषा’ पद ‘मनसा’ का विशेषण है और मन की निश्चयात्मक वृत्ति को बुद्धि कहते हैं, अतः ‘मनसा’ पद से बुद्धि का ग्रहण यहां समझना चाहिए । वह परमात्मा परमसूक्ष्म, सर्वव्यापक और लिङ्ग रहित है, उसके यथार्थ स्वरूप को जानने वाले योगी पुरुष परमात्मा को प्राप्त कर लेते हैं ।

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।

बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ॥६॥१०॥

पदार्थ—(यदा) जब (पञ्च, ज्ञानानि) योगाभ्यास द्वारा अपने-अपने (विषयों) से पृथक् की गई श्रोत्रादि ज्ञानेन्द्रियां (मनसा, सह) मन के साथ (अवतिष्ठन्ते) परमेश्वर में स्थिर हो जाती हैं (च) और (बुद्धिः) मन की निश्चयात्मक वृत्ति (न, विचेष्टते) ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, (ताम्) उसको (परमां, गतिम्) सर्वोत्कृष्ट मोक्ष-अवस्था अथवा जीवनमुक्तिदशा (आहः) ज्ञानी योगीपुरुष कहते हैं ।

“(यदा पञ्चाव०) अर्थात् जब मन के सहित पांच ज्ञानेन्द्रियां परमेश्वर में स्थिर होके उसी में सदा रमण करती हैं और जब बुद्धि भी ज्ञान से विरुद्ध चेष्टा नहीं करती, उसी को परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।”
(ऋ० भ० १५१, मक्तिविषयः)

“जब शुद्ध मनयुक्त पांच ज्ञानेन्द्रिय जीव के साथ रहती हैं और बुद्धि का निश्चय स्थिर होता है, उसको परमगति अर्थात् मोक्ष कहते हैं।”
(सत्यार्थ० १९७)

भावार्थ—मोक्ष की दो अवस्थाएँ होती हैं—१. जीवन्मुक्तिदशा, २. शरीरादि से पृथक् होकर परमेश्वर के आनन्द को भोगना । यहाँ दोनों

अवस्थाओं का वर्णन है । जो जीवन्मुक्त होते हैं, उनके स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीरादि होते हुए भी ये उनके (योगी के) अधीन होते हैं । और शरीरादि से पृथक् होने पर मोक्ष में जीवात्मा के स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं, उन से ही देखना सुननादि जीव करता है । योगिराज महर्षि दयानन्द ने इस विषय में बहुत ही स्पष्ट लिखा है—“मोक्ष में भौतिक शरीर वा इन्द्रियों के गोलक जीव के साथ नहीं रहते, किन्तु अपने स्वाभाविक शुद्ध गुण रहते हैं । जब सुनना चाहता है तब श्रोत्र, स्पर्श करना चाहता है तब त्वचा, देखने के सङ्कल्प से चक्षु, स्वाद के अर्थ रसना, गन्ध के लिए घ्राण,अपनी स्वशक्ति से जीवात्मा मुक्ति में हो जाता है और सङ्कल्पमय शरीर होता है । जैसे शरीर के आधार रहकर इन्द्रियों के गोलक के द्वारा जीव स्वकार्य करता है, वैसे अपनी शक्ति से मुक्ति में सब आनन्द भोग लेता है ।” (सत्यार्थप्र० नवम०)

और अशुद्धियों का नाश तथा ज्ञानदीप्ति होने पर भी जीवात्मा तुरन्त शरीर नहीं छोड़ता । वह ‘चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः’ (सां० ३।८२) जैसे कुम्भकार=कुम्हार चाक को दण्ड से घुमाकर छोड़ देता है और दण्ड न होने पर भी कुछ काल तक चाक चलता रहता है, उसी प्रकार विवेक-ज्ञान से समस्त अविद्या के दूर होने पर भी फलोन्मुख प्रारब्ध कर्मों से जीवन्मुक्त का भी शरीर बना रहता है । प्रस्तुत श्रुति में ‘परमगति’ (मोक्ष) शब्द से दोनों अवस्थाओं का वर्णन समझना चाहिए। और जीवन्मुक्त पुरुष का दूसरे पुरुषों से क्या भेद हो जाता है, इसका भी स्पष्टीकरण इस श्रुति से हो रहा है अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुष की सब इन्द्रियां तथा मन अपने विषयों से उपरत होकर स्थिर हो जाते हैं और बुद्धि-मन की निश्चयात्मक वृत्ति ज्ञान के विरुद्ध चेष्टा से निवृत्त हो जाती है । यहां ‘ज्ञानानि’ पद से ज्ञानेन्द्रियों का ही प्रकरण के अनुसार ग्रहण करना चाहिए ।

समीक्षा—यहां आचार्य शङ्कर ने “बुद्धिश्च न विचेष्टते= बुद्धिश्चाध्यवसायलक्षणा न विचेष्टते स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते ।” अर्थात् बुद्धि अपना व्यापार मोक्षदशा में बन्द कर देती है । यह शङ्कर स्वामी की भ्रान्ति ही है । क्योंकि बुद्धि जीवन्मुक्त दशा में अपना कार्य तो करती है, किन्तु ज्ञानविरुद्ध आचरण नहीं करती । यह महर्षि दयानन्द ने ही स्पष्ट अर्थ किया है । और मोक्ष में भी बुद्धि (जीव का

स्वाभाविक गुण) अपना कार्य अवश्य करती है । जैसा कि शतपथ ब्राह्मण (का० १४) में लिखा है—‘बोधयन् बुद्धिर्भवति ।’ यदि बुद्धि आदि अपना-अपना कार्य न करें तो योगी जड़ की भाँति निश्चेष्ट बैठा रहे तो उसे आनन्द ही क्या मिल सकता है ? अतः शाङ्कर-व्याख्या सत्यार्थ का प्रकाश नहीं करती ।

अब उपासना योग को ही मोक्ष का साधन कथन करते हैं—

तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।

अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥६॥११॥

पदार्थ—(स्थिराम्) ज्ञानेन्द्रियों की मन के साथ परमेश्वर में स्थिति तथा (इन्द्रियधारणाम्) इन्द्रियों की धारणा=वश में करने वाली (ताम्) पूर्वोक्त परमगति को विद्वान् योगी पुरुष (योगमिति) योग की सिद्धि या योग की सफलता (मन्यन्ते) मानते हैं । (तदा) उस समय योगी (अप्रमत्तः, भवति) अविद्यादि क्लेशों से रहित होने से प्रमाद-रहित हो जाता है । (हि) क्योंकि (योगः) यह उपासनायोग ही (प्रभवाप्ययौ) प्रभवः=सत्यगुणों का प्रकाश व शुद्धि कराने वाला और अप्ययः=अविद्यादि दोषों तथा अशुद्धि का नाश करने वाला है ॥

“(तां योग०) उसी गति अर्थात् इन्द्रियों की शुद्धि और स्थिरता को विद्वान् लोग योग की धारणा मानते हैं । जब मनुष्य उपासना योग से परमेश्वर को प्राप्त होके प्रमादरहित होता है, तभी जानो कि वह मोक्ष को प्राप्त हुआ । वह उपासना योग कैसा है कि प्रभव अर्थात् शुद्धि और सत्यगुणों का प्रकाश करने वाला तथा (अप्ययः) अर्थात् सब अशुद्धि दोषों और असत्य गुणों का नाश करने वाला है, इसलिए केवल उपासनायोग ही मुक्ति का साधन है ॥” (ऋ० भू० १५२, मुक्तिविषयः)

भावार्थ—यहां उपनिषत्कार ने योग का लक्षण तथा योग से लाभ दोनों बातों पर प्रकाश डाला है । इन्द्रियों का निरोध करके मन के साथ परब्रह्म के स्वरूप में मग्न करना ही योग है । इसी को योगदर्शनकार ने इस प्रकार लिखा है—‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।’ ‘तदा द्रष्टुः स्वरूपे-ऽवस्थानम् ।’ (योग० १।२-३) अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध करना ही योग है और वृत्तिनिरोध होने पर परमात्मा के स्वरूप में स्थिति करना । और यहां योग से दो लाभ बताये हैं—अप्ययः=योग से अशुद्धि

अथवा अविद्या का नाश होता है और प्रभवः=ज्ञानदीप्ति या सत्यगुणों का प्रकाश होता है । इसी बात को योगदर्शन में इस प्रकार लिखा है—
 “योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः” । (योग० २।२८)
 अर्थात् यम नियमादि योगाङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होता है और विवेकख्याति होने तक ज्ञानदीप्ति होती है । यहां योगदर्शन तथा उपनिषद् में ब्रह्म प्राप्ति का एक ही मार्ग बताया है । उसमें कोई विरोध नहीं है । और यहां ‘अप्रमत्तः’ शब्द से यह भी स्पष्ट किया है कि योगी को निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त योग का अभ्यास दृढास्था से करना चाहिए ।

मोक्षप्राप्ति के लिए इन्द्रियों का निग्रह करना परमावश्यक है, अब क्योंकि इन्द्रियागोचर परमेश्वर की प्राप्ति इन्द्रियों से सम्भव नहीं । अब यह पुनः स्पष्ट करते हैं—

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।

अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥६।१२॥

पदार्थ—वह परमेश्वर (न, एव, वाचा) न तो वाणी^१ आदि कर्मेन्द्रियों से (न मनसा) न मन से और (न चक्षुषा^२) न नेत्रादि ज्ञानेन्द्रियों से (प्राप्तुं शक्यः) प्राप्त हो सकता है । किन्तु (अस्तीति ब्रुवतः) परमेश्वर की सत्ता अवश्य है, ऐसा कहने वाले से (अन्यत्र) भिन्न प्रसङ्ग में (तत्) वह परब्रह्म (कथम्) किस प्रकार (उपलभ्यते) प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् इस समस्त जगत् का उत्पत्तिकर्ता, नियन्ता, पालक तथा स्वामी कोई अवश्य है, क्योंकि विना कर्ता के कोई वस्तु स्वयं नहीं बन सकती । अतः उस परब्रह्म की सत्ता मानकर उसको ध्यानादि योग के अङ्गों के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ।

भावार्थ—नेत्रादि समस्त इन्द्रियों के अपने-अपने ग्राह्य रूपादि विषय हैं । उनको वे इन्द्रियां ग्रहण करती हैं । परन्तु परम-सूक्ष्म, निराकार तथा सर्वव्यापक चेतन सत्ता है, वह इन इन्द्रियों का विषय है ही नहीं । अतः इन्द्रियों से उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता । परन्तु समस्त जगत् की रचना, नियन्त्रण तथा व्यवस्था को देखकर परब्रह्म की सत्ता

१. ‘वाणी’ शब्द समस्त कर्मेन्द्रियों का उपलक्षण है ।

२. ‘चक्षु’ शब्द समस्त ज्ञानेन्द्रियों का उपलक्षण समझना चाहिए।

की प्रतीति अवश्य होती है । क्योंकि जो वस्तु संयोग से बनी है वह जड़ जगत् विना कर्ता के स्वयं नहीं बन सकता । अल्पज्ञ जीवात्मा का जगदुत्पत्ति करने का सामर्थ्य हो नहीं सकता, अन्यथा कोई तो जीवात्मा, दूसरा सूर्य, दूसरी पृथ्वी इत्यादि बनाकर दिखाता । अतः उस सर्वज्ञ परब्रह्म की सत्ता में दृढ़ विश्वास करना ही पड़ता है । और उसकी प्राप्ति उपासनादि के विना नहीं हो सकती ।

अब परब्रह्म की सत्ता को मानना अविद्यादि दोषों को दूर करने के लिए परमावश्यक बताते हुए कहते हैं—

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।

अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥६।१३॥

पदार्थ—(च) और (उभयोः) ईश्वर-विषयक ‘अस्ति-नास्ति’ इन दोनों पक्षों में (तत्त्वभावेन) प्रकृति से बने पृथिवी आदि पाञ्चभौतिक कार्यों से (अस्तीति एव) परमेश्वर की सत्ता अवश्य ही है, अतः (उपलब्धव्यः) वह प्राप्त करने योग्य है, यह मानना चाहिए । अन्यथा ईश्वर की सत्ता के विना सृष्टिरचनादि कार्य सम्भव नहीं है । (अस्ति, इति, एव) वह परमेश्वर है, इस प्रकार (उपलब्धस्य) योग द्वारा परमेश्वर को प्राप्त करने वाले योगी पुरुष की (तत्त्वभावः) पञ्चतत्त्वों से बने शरीर, इन्द्रियादि (प्रसीदति) प्रसन्न=शुद्ध होकर शोकरहित हो जाती हैं ।

भावार्थ—परब्रह्म अतीव सूक्ष्म होने से इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता । अतः जो योगी नहीं हैं, उनको परब्रह्म की प्रतीति नहीं हो सकती । अतः परब्रह्म की सत्ता में दृढ़ विश्वास करके जो परब्रह्म की उपासना करते हैं, उनका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, क्योंकि वह दुष्कर्मों से पृथक् रहकर श्रेष्ठ कार्यों में ही सदा निरत रहता है । और जिसका अन्तःकरण शुद्ध नहीं है, वह कभी भी शोकादि दुःखों से नहीं बच सकता । इसीलिए योगदर्शनकार ने ‘ईश्वरप्रणिधानाद्वा’ कहकर ईश्वरानुग्रह को समाधि में मुख्य कारण बताया है । अतः नास्तिक मनुष्य कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकते ।

समीक्षा—यहां आचार्य शङ्कर ने ‘उभयोः’ पद की ‘सोपाधिक-निरुपाधिकयोः’ व्याख्या असङ्गत की है । क्योंकि मन्त्र में परब्रह्म की सत्ता की महत्ता बताई है, अतः सत्ता मानने वाला तथा दूसरा न मानने

वाला अर्थात् आस्तिक-नास्तिक रूप अर्थ ही करना सङ्गत होता है । अद्वैतवाद के अनुसार परब्रह्म निरुपाधिक है, और जीवात्मा सोपाधिक है। अविद्यादि उपाधि की सत्ता मानकर अद्वैतवाद की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती । और एक ही ब्रह्म को अविद्या से युक्त तथा अविद्या से रहित कहना या मानना भी अविद्या की बात है । क्योंकि व्यवधान या उपाधि दो वस्तुओं में ही सम्भव है, एक में नहीं ।

अब परमात्मा के साक्षात्कार का फल-कथन करते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥६॥१४॥

पदार्थ—(यदा) जब परवैराग्यदशा में (अस्य) इस योगी पुरुष के (हृदि^१ श्रिताः) अन्तःकरण में स्थित (ये, कामाः) जो वासनाएँ अथवा विषय-भोगों की इच्छाएँ हैं, (सर्वे) वे सब (प्रमुच्यन्ते) दूर हो जाती हैं । अथवा दग्ध-बीज की भांति होकर प्रसवोन्मुख नहीं रहतीं । (अथ) इसके पश्चात् (मर्त्यः) योगी पुरुष (अमृतः, भवति) मुक्त हो जाता है । (अत्र) इस अवस्था में (ब्रह्म) परमात्मा व परमात्मा के सम्पर्क से होने वाले आनन्द को (समश्नुते) अच्छी प्रकार योगी पुरुष प्राप्त करता है ।

“(यदा सर्वे०) जब इस मनुष्य का हृदय सब बुरे कामों से अलग होके शुद्ध हो जाता है, तभी वह अमृत अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होके आनन्दयुक्त होता है ।

(प्र०) क्या वह मोक्षपद ही स्थानान्तर वा पदार्थ विशेष है ? क्या वह किसी एक जगह में है, वा सब जगह में ?

(उत्तर) नहीं, ब्रह्म जो सर्वत्र व्यापक हो रहा है, वही मोक्षपद कहाता है और मुक्तपुरुष उसी मोक्ष को प्राप्त होते हैं ।”

(ऋ० भू० १५२ पृ०, मुक्तिविषयः)

१. यहां ‘हृदय’ शब्द से अभिप्राय हृदयस्थ अन्तःकरण से ही है। क्योंकि जीवात्मा का स्थान हृदय है, अतः उसका सूक्ष्मशरीर भी उसके ही साथ रहता है और मन आदि सूक्ष्मशरीर के ही सतरह घटक हैं । और समस्त वासनाएँ मन में रहती हैं, जैसा कि महर्षि दयानन्द लिखते हैं—
“तदनुगुणा वासना आशयाः ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्ता ।”

(ऋ० भू० उपासना०)

१. 'परवैराग्य' शब्द का स्पष्टीकरण योगदर्शन से होता है। वैराग्य का लक्षण है—ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्' (व्यासभा० १।१६) ज्ञान की पराकाष्ठा=उत्कृष्ट सीमा ही वैराग्य है । और जब असम्प्रज्ञात समाधि में चित्त की समस्त वृत्तियाँ लीन हो जाती हैं, तब संस्कार रहित चित्त के निरोध का उपाय 'तस्य परवैराग्यमुपायः' (व्यासभा० १।१८) परवैराग्य बताया है । और 'दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम् ।' (योग० १।१५) देखे या सुने इन्द्रियों के विषयों की वासनारहित प्रतीति=विषयों में न फँसने को वैराग्य कहते हैं ।

में जीवन्मुक्तावस्था में (हृदयस्य) अन्तःकरण की (सर्वे, ग्रन्थयः) सब अविद्यादि क्लेशों की गांठें (प्रभिद्यन्ते) छिन्न-भिन्न होकर समाप्त हो जाती हैं अथवा अविद्या मिथ्याज्ञानादि नष्ट होकर ज्ञान की ज्योति प्रकाशित हो जाती है, (अथ) उसके पश्चात् (मर्त्यः) योगी पुरुष (अमृतः, भवति) मुक्त हो जाता है । (एतावत्) इतनी ही (अनुशासनम्) शास्त्र की शिक्षा या उपदेश है ॥

“(यदा सर्वे०) जब जीव की अविद्यादि बन्धन की सब गांठें छिन्न भिन्न होके टूट जाती हैं, तभी वह मुक्ति को प्राप्त होता है ।”

(ऋ० भू० १५२ पृ०, मुक्तिविषयः)

भावार्थ—इस श्रुति में भी पूर्वोक्त बात को ही प्रकारान्तर से कहा गया है कि जब तक योगी पुरुष की मन की अविद्यादि के कारण बनी ग्रन्थियां नष्ट नहीं होतीं, तब तक मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः प्रथम मानसिक समस्त कामनाओं से मुक्ति पाना आवश्यक है और तत्पश्चात् संसार के भोगों को भोगते-भोगते मन में जो वासनाएँ बन जाती हैं, जिनके कारण जीवात्मा पुनः विषयों के भोग में प्रवृत्त होता रहता है, उनका दग्धबीज की भांति नष्ट करना भी परमावश्यक है । यह ही योगी पुरुष के लिए शास्त्रों का मुख्य उपदेश है ।

समीक्षा—यहां नवीन वेदान्त के प्रवर्तक शङ्कर-स्वामी ने लिखा है कि सब वेदान्तों का यही उपदेश है कि—जब जीवात्मा ब्रह्म हो जाता है, उस के बाद शास्त्रोपदेश की आवश्यकता नहीं रहती परन्तु यह उनकी भ्रान्ति है । प्रथम तो जीव ब्रह्म नहीं बन सकता । और मोक्ष प्राप्त करके भी ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि ज्ञान के विना मोक्ष के आनन्द को कैसे भोग सकता है ? मोक्ष कोई मूढावस्था के समान नहीं है ।

अब जीवन्मुक्त योगी पुरुष की शरीर से उत्क्रान्ति का इस प्रकार कथन करते हैं—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासाम्मूर्द्धानमभिनिःसृतैका ।

तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमेण भवन्ति ॥६।१६॥

पदार्थ—(हृदयस्य) मानव के हृदय^१ की (शतम् च एका) एक

१. ‘हृदय’ को समझने के लिए (कठो० ६।१७) की टिप्पणी पढ़िये ।

सौ एक (नाड्यः) नाडियां होती हैं (तासाम्) उनमें से (एका) एक 'सुषुम्णा' नामक नाड़ी (मूर्धानम्) ब्रह्मरन्ध्र में (अभिनिःसृता) जाकर निकली हुई है । (तया) उस सुषुम्णा नाड़ी से (ऊर्ध्वम्) शरीर में ऊर्ध्वदेशस्थ ब्रह्मरन्ध्र को (आयन्) गमन करता हुआ अर्थात् मरण समय में ब्रह्मरन्ध्र से निकलता हुआ योगी पुरुष का आत्मा (अमृतत्वम्, एति) मोक्षपद को प्राप्त करता है । (च) और (अन्याः) उस नाड़ी से दूसरी सौ नाडियां (उत्क्रमेण) विपरीत फल देने से (विष्वङ्,^१ भवन्ति) नाना प्रकार की कर्मानुसार विभिन्न योनियों का कारण होती हैं ।

भावार्थ—जीवात्मा की शरीर से उत्क्रान्ति (निकलना) शरीरस्थ छिद्रों (नेत्रादि) से ही होती है । मृत्यु को प्राप्त शरीरों में हम यह स्पष्ट देखते हैं कि किसी का मुंह फटा रहता है, या किसी की आंखादि । परन्तु ये सब मृत्यु निकृष्ट हैं । जीवात्मा इस शरीर में हृदय में रहता है और हृदय में एक सौ एक नाडियां यहां बताई हैं । उनमें से जीवन्मुक्त पुरुष की आत्मा का उत्क्रमण 'सुषुम्णा' नामक नाड़ी से होता है, जो हृदय से शिरस्थ ब्रह्मरन्ध्र से मिली हुई है । इसके द्वारा जीवात्मा का शरीर से उत्क्रमण मोक्ष देने वाला होता है, और दूसरी सौ नाडियों से जिसका उत्क्रमण होता है, वह साधारण मृत्यु है । वह मरणोत्तर कर्मानुसार विभिन्न योनियों को प्राप्त करता है । इसलिये मोक्षार्थी को योगाभ्यास अवश्य करना चाहिए । क्योंकि योग की विधियों से ही शरीरस्थ सब नाडियों का सूक्ष्म-विज्ञान प्राप्त होता है और प्राणायामादि की विद्या से जीवात्मा ऊर्ध्वगति करने से सामर्थ्य प्राप्त करके मोक्ष का अधिकारी बन जाता है ।

जो योगी नहीं है वह अपनी शरीरस्थ शक्तियों अथवा साधनों को अपने आधीन नहीं रख सकता, अतः मृत्यु के समय दैवाधीन होकर जिस ओर उसकी गति तेज हो जाती है, उसी ओर से आत्मा का निष्क्रमण हो जाता है ।

समीक्षा—इस श्रुति से यह भी स्पष्ट है कि मोक्ष-प्राप्ति केवल ज्ञानजन्य ही नहीं है, प्रत्युत तदनुसार कर्म-जन्य भी है । ज्ञान के अनुसार कर्मानुष्ठान करना भी परमावश्यक है परन्तु नवीन वेदान्त की मान्यता इससे भिन्न है । उनके अनुसार 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्य-ज्ञान से

२. विष्वङ्=यो विषु सर्वत्र विभिन्नयोनिषु अञ्चति प्राप्नोति सः ।

जीव ब्रह्म हो जाता है और योगी पुरुष का उत्क्रमण भी नहीं होता । यह उनकी भ्रान्ति तथा इस उपनिषद् की श्रुति से विरुद्ध होने से मिथ्या मान्यता है । स्वामी शङ्कराचार्य ने इस श्रुति की व्याख्या में लिखा है— “प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यते ।ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजः तेषामेव गतिविशेष उच्यते ।” अर्थात् जिसकी अविद्यादि समस्त ग्रन्थियां नष्ट हो जाती हैं, उस ब्रह्मभाव को प्राप्त विद्वान् की उत्क्रमणादि कोई गति नहीं होती । यहां जो उत्क्रमण-गति के विषय में कहा है, यह तो जो कम ब्रह्मज्ञान वाले या विद्यान्तर में लगे हुए हैं, उनके विषय में कहा है ।”

यहां शङ्कर-स्वामी ने उपनिषदों से विरुद्ध, मिथ्याग्रह के कारण ही ऐसी व्याख्या लिखी है । उपनिषद् में आत्मा की उत्क्रान्ति सब की मानी है, किन्तु मोक्षार्थी की विशेषगति कही है । ‘ऊर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति’ इस वाक्य से स्पष्ट है कि मोक्ष को प्राप्त करने वाले की उर्ध्वगति होती है । और वह योगी मोक्ष को प्राप्त करता है, न कि ज्यों का त्यों ब्रह्म बन जाता है ।

मोक्ष-प्राप्ति के लिए भौतिक-शरीर से जीवात्मा के उत्क्रमण को उदाहरण देकर समझाते हैं—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।

तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण ।

तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥६।१७॥

पदार्थ—जो (अङ्गुष्ठमात्रः) अङ्गुष्ठमात्र स्थान में रहने वाला (पुरुषः) शरीर रूपी नगरी में स्थित (अन्तरात्मा) जीवात्मा (जनानाम्) प्राणियों के (हृदये) हृदय^१ में (सदा, सन्निविष्टः) सदा स्थित रहता है

१. यहां जीवात्मा का शरीर में हृदय में स्थान बताया है । और हृदय शब्द को स्पष्ट करते हुए महर्षि दयानन्द लिखते हैं—“कण्ठ के नीचे दोनों स्तनों के बीच में और उदर के ऊपर जो हृदय देश है, जिसको ब्रह्मपुर अर्थात् परमेश्वर का नगर कहते हैं.....परमेश्वर उसी प्रकाशित स्थान के बीच में खोज करने से मिल जाता है । (ऋ० भू० उपासना०)

इससे स्पष्ट है कि उपासक जीव और उपास्य परमेश्वर दोनों का मिलन हृदय स्थान में ही हो सकता है, हृदय से अन्यत्र परमेश्वर का ध्यान करना भ्रान्ति मात्र है ।”

भावार्थ—उपनिषदादि आध्यात्मिक ग्रन्थों में पुरुष शब्द का प्रयोग जीवात्मा व परमात्मा दोनों के लिए आता है । क्योंकि ‘पुरि शेते पुरुषः’ इस ब्रह्माण्ड रूपी पुर में शयन=स्थित होने से परमात्मा पुरुष है और इस पाञ्चभौतिक शरीर में निवास करने से जीवात्मा पुरुष है । किन्तु प्रकरणानुसार ही पुरुष शब्द की सङ्गति लगानी चाहिए । कठोपनिषद् के (४।१२-१३) में भी ‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः’ कहा है, किन्तु ‘ईशानो भूतभव्यस्य=भूत व भविष्यत् का अध्यक्ष या रचयिता परमेश्वर ही हो सकता है, अतः वहां परमेश्वर परक ही व्याख्या उचित है । और यहां ‘तं स्वाच्छरीरात् प्रवृहेत्=उसको अपने शरीर से पृथक् करे इस कथन से जीवात्मा परक ही व्याख्या उचित है । क्योंकि परमात्मा शरीरादि से रहित तथा व्यापक है, उसका पृथक् करना कैसे सम्भव है ? जीवन्मुक्त का शरीर छोड़ना कथन से भी जीवात्मा की ही सङ्गति ठीक है । कुछ विद्वानों ने इस मन्त्र की व्याख्या परमात्मा परक की है, वह उपनिषत्कार के आशय से विपरीत होने से असङ्गत है । और जीवात्मा-परमात्मा का मिलन स्थान अङ्गुष्ठमात्र हृदय ही है, अतः इस शब्द का प्रयोग दोनों के लिए किया गया है । परमात्मा के लिए प्रयुक्त ‘अङ्गुष्ठमात्रः’ शब्द की व्याख्या “अङ्गुष्ठ-परिमाणं हृदयं प्राप्तिस्थानं यस्य=अङ्गुष्ठ परिमाण वाला हृदय, जिसको ‘ब्रह्मपुर’ कहा गया है, जिसकी उपासना या प्राप्ति का स्थान है ।” यह करनी चाहिए और जीवात्मा के लिए प्रयुक्त ‘अङ्गुष्ठमात्रः’ की व्याख्या—“अङ्गुष्ठमात्रं हृदयं निवासस्थानं यस्य=अङ्गुष्ठमात्र=हृदय जिसका निवास स्थान है ।” यह करनी चाहिए । और जीव-ब्रह्म का व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध होने से ब्रह्म की उपासना हृदय में ही हो सकती है ।

और इस श्रुति की परमात्मा-परक व्याख्या में दृष्टान्त का भी

विरोध है । मूँज से शलाका के समान शरीरादि के बन्धन से जीवात्मा के पृथक्करण के कथन से जीवात्मा-परक ही व्याख्या इसकी करनी चाहिए । क्योंकि शुद्ध जीवात्मा ही जन्म-मरण से मुक्त होता है परमात्मा नहीं । और यहां 'सदा सन्निविष्टः' पदों से भी यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि परमेश्वर ही सदा सन्निविष्ट होता है, जीव नहीं । क्योंकि यहां 'हृदय में सन्निवेश' कहा है और वे हृदयादि शरीरावस्था में ही हो सकते हैं । अतः यह कहना चाहिए कि शरीर में जीवात्मा की स्थिति हृदय में ही होती है, अन्यत्र नहीं । और यहां जीवात्मा को शुक्रम्=शुद्ध तथा अमृतम्=न मरने वाला' कहा है । यद्यपि ये दोनों पद जीव-ब्रह्म दोनों के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं किन्तु यहां शरीरधारी जीवन्मुक्त जीवात्मा के लिए ही प्रयुक्त हैं । उस दशा में जीवात्मा शुद्ध तथा अमृत होता है । अतः इस श्रुति की व्याख्या ब्रह्मपरक कदापि सङ्गत नहीं है । और जन्म-जन्मान्तरों की वासनाओं के कारण जीवात्मा शरीर को छोड़ना नहीं चाहता । शरीर से पृथक् होने को अविद्यावश बड़ा दुःख मानता है । किन्तु पूर्णज्ञान, वैराग्य तथा ब्रह्म प्राप्ति होने पर अविद्या की सब ग्रन्थियां कट जाती हैं, तब यह शरीरादि का मोह नष्ट हो जाता है और शरीर छोड़ने को जीव दुःख नहीं समझता ।

समीक्षा—इस श्रुति की व्याख्या में शङ्कर स्वामी ने "अमृतम्=यथोक्तं ब्रह्म" लिखकर असङ्गत व्याख्या की है । क्योंकि जिस ब्रह्म को उपनिषदों में 'अकायम्=शरीररहित तथा सर्वत्र व्यापक माना है, उसका प्रथम तो शरीर ही सम्भव नहीं और व्यापक ब्रह्म का पृथक्करण कैसे सम्भव है । वह ब्रह्म तो सब बन्धनों से रहित होने से 'अस्नाविरम्' है, फिर उसका मूँज से सींक के छूटने के समान घटना कैसे सम्भव है ? अतः यहां 'अमृतम् पद का शरीर के साथ नष्ट न होने वाला जीवात्मा ही अर्थ करना उचित है ।

अब ब्रह्मविद्या विषयक यम-नचिकेता के संवाद का फल कथन करते हैं—

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिञ्च कृत्स्नम् ।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥

(६।१८)

भावार्थ—वेद में मोक्षप्राप्ति का एकमात्र उपाय बताते हुए लिखा है—“तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।” अर्थात् परमात्मा के सर्वोत्तम मोक्षपद को प्राप्त करने के लिए ब्रह्म का ज्ञान अपरिहार्य है । और रागादि दोषों से छूटकर पूर्ण वैराग्य प्राप्त करने तथा मृत्यु=समस्त दुःखों से छूटने का भी उपाय ब्रह्मज्ञान ही है । जो जीवात्मा मोक्षार्थी है, उसे ब्रह्म-ज्ञान को प्राप्त करना ही होगा, अन्यथा कभी सफलता प्राप्त नहीं हो सकती । ब्रह्मज्ञान के साथ उपनिषत्कार ने योगविधि की ओर भी ध्यान दिलाया है । क्योंकि ब्रह्मज्ञान तब तक सम्भव नहीं है, जबतक अशुद्धि का नाश व ज्ञान का प्रकाश न हो । इसीलिए योगदर्शन ने कहा—‘योगाङ्गानुष्ठानदशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक-ख्यातेः ।’ अर्थात् योग के अङ्गों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश और ज्ञान की दीप्ति विवेकख्याति पर्यन्त होती है । अतः योगी पुरुष को पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना और योगाङ्गों का अनुष्ठान (योगविधि) करना परमावश्यक है ।

समीक्षा—प्रस्तुत श्लोक में कहा है कि नचिकेता ने योगविधि सीख कर ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया और मोक्ष को प्राप्त किया । यहां ‘ब्रह्मप्राप्तः’ का अर्थ ब्रह्म को जानना या मोक्ष प्राप्त करना ही है, ब्रह्म होना नहीं । इससे जीव-ब्रह्म के भेद का स्पष्ट वर्णन है । अन्यथा ‘ब्रह्म ही हो गया ऐसा लिखा होता इससे अद्वैतवाद की मिथ्या मान्यता का खण्डन हो जाता है ।

अब इस अध्यात्मविद्या की वृद्धि के लिए गुरु-शिष्य दोनों ही

प्राथना करते हैं—

सह नावतु सह नौ भुनक्तु सह वीर्यं करवावहै ।

तेजस्विनावधीतम् अस्तु मा विद्विषावहै ॥

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥६॥१९॥

पदार्थ—परमेश्वर (नौ) हम दोनों गुरु-शिष्यों की (सह) एक साथ (नावतु) रक्षा करे (नौ) हम दोनों का (सह) एक साथ (भुनक्तु) पालन करे, जिससे हम दोनों (वीर्यम्) ब्रह्मविद्या की प्राप्ति में आने वाली बाधाओं के सहने आदि रूप सामर्थ्य को (सह) एक साथ (करवावहै) सिद्ध करें (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ना, पढ़ाना (तेजस्वि) तेजयुक्त हो अर्थात् हमारी विद्या प्रभावशाली और विविध फलों से युक्त हो (मा विद्विषावहै) और पढ़ने-पढ़ाने वाले गुरु शिष्य परस्पर कभी द्वेष न करें (ओ३म्) हे परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा करें कि जिससे हमारे पठन-पाठन में होने वाले (शान्तिः, शान्तिः, शान्तिः) आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक तीनों प्रकार के दुःख शान्त हो जावें और हम निरुपद्रव रूप से ब्रह्मविद्या को प्राप्त कर सकें ।

“(सह नाव०) हे सर्वशक्तिमन् हे ईश्वर ! आपकी कृपा, रक्षा और सहाय से हम लोग परस्पर एक दूसरे की रक्षा करें । (सह नौ भु०) और हम सब लोग परस्पर प्रीति से मिल के सब से उत्तम ऐश्वर्य अर्थात् चक्रवर्ति राज्यादि सामग्री से आनन्द को आपके अनुग्रह से सदा भोगें । (सह वीर्य०) हे कृपानिधे ! आपके सहाय से हम लोग एक दूसरे के सामर्थ्य को पुरुषार्थ से सदा बढ़ाते रहें (तेजस्वि०) और हे प्रकाशमय ! हे सब विद्या के देनेवाले परमेश्वर ! आपके सामर्थ्य से ही हम लोगों का पढ़ा और पढ़ाया इस संसार में प्रकाश को प्राप्त होवे और हमारी विद्या सदा बढ़ती रहे (मा विद्विषा०) हे प्रीति के उत्पादक ! आप ऐसी कृपा कीजिए कि जिससे हम लोग परस्पर विरोध कभी न करें किन्तु एक दूसरे के मित्र होके सदा वर्ते । (ओं शान्तिः०) हे भगवान् । आपकी करुणा से हम लोगों के तीन ताप एक (आध्यात्मिक) जो कि ज्वर आदि रोगों से शरीर में पीड़ा होती है । (दूसरा आधिभौतिक) जो दूसरे प्राणियों से होता है और तीसरा (आधिदैविक) जो कि मन और

इन्द्रियों के विकार, अशुद्धि और चञ्चलता से क्लेश होता है । इन तीनों तापों को आप शान्त अर्थात् निवारण कर दीजिए ।”

(ऋ० भू० ईश्वरप्रार्थनाविषयः)

महर्षि दयानन्द ने इस मन्त्र की व्याख्या संस्कारविधि, आर्याभिविनयादि ग्रन्थों में भी की है ।

भावार्थ—सब मनुष्यों को चाहिए कि वे अपने सब कर्मों के आदि व अन्त में परमेश्वर से प्रार्थना अवश्य करें जिससे उनके कार्य निरुपद्रव व शान्ति से समाप्त हो सकें । विद्या पढ़ने तथा पढ़ाने वाले शिष्य व गुरु दोनों ही इस प्रकार की सम्मिलित प्रार्थना किया करें । उनके मन शुद्ध तथा द्वेषादि से रहित हों, जिससे प्रीति बढ़ने से विद्या-प्राप्ति निर्बाधरूप से हो सके और अध्ययन अध्यापन तेजस्वी बन सके । इसी भाव को निरुक्तकार ने इस प्रकार लिखा है—

‘असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती यथा स्याम्’ ।
अर्थात् जो असूयावृत्ति वाले, कुटिलाचरणयुक्त तथा पुरुषार्थी नहीं हैं, ऐसे शिष्यों को विद्या नहीं पढ़ानी चाहिए । विद्या योग्य शिष्य को पढ़ाने से ही तेजस्विनी होती है ।



इति कठोपनिषद्भाष्ये षष्ठी वल्ली समाप्ता ॥

ऋतुकालखपक्षाब्दे फाल्गुने च सिते दले ।
नवम्यां रविवासरे भाष्यं पूर्तिमगादिदम् ॥

इति गुरुकुलझञ्जरेऽधीतविद्येन तत्र भवतामोमानन्दान्तेवासि-
नोत्तरप्रदेशवास्तव्येन श्रीलशिवचरणतातपादानां सुतेन
आचार्योपाधिधारिणा राजवीरशास्त्रिणा व्याख्यातं
कठोपनिषद्-भाष्यम् ॥